मुद्रक—

मुकुन्ददास गुप्त 'प्रभाकर'

टाइम टेबुल प्रेस, बनारस।

पौराणिक नाटक

उपोद्घात

ये नाटक पौराणिक हैं क्योंकि इनमें आए हुए मुख्य पात्र पौराणिक हैं। च्यवन, विदन्वन्त, अश्विनीकुमार, वसिष्ठ, और्व इत्यादि पात्रोंके नाम यद्यपि वैदिक साहित्यमें मिलते हैं पर इन नामोंके सहारे आख्यान तो पीछे से गूँथे गए हैं। वस्तुतः इस सम्बन्धमें पुराण स्वतः ही वैदिक साहित्यके ऋणी हैं। पुराण-कारोंने वैदिक साहित्यमें चलाई हुई आख्यान-रचना-प्रणालीका अनुसरण करके कथाओंका विस्तार कर दिया है और ऐसा करनेमें उन्होंने कथाओंका रूप ही बदल दिया। फल यह हुआ कि पात्रोंके स्वभाव रहन-सहन, घटना, देशकाल व समग्र चित्रका वैदिक आधार लुप्त होकर पौराणिक आधार बन गया।

श्री मुन्शीजीने इन नाटकोंकी कथावस्तु महाभारत और पुराणोंसे ली है। यह बात पौराणिक टिप्पणी देखनेसे तुरन्त ही समझमें आ जायगी, तो भी पुराणोंकी इन घटनाओंका समय प्राक्तर माननेके कारण श्रीमुन्शीजीने वैदिक और पौराणिक दोनोंका मिला-जुला वातावरण प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न कहाँतक सफल हुआ है, यह कहना तनिक कठिन है, क्योंकि उस समयका सम्पूर्ण वातावरण उत्पन्न करनेके लिये आवश्यक साधन ही उपलब्ध नहीं हैं। वैदिक साहित्यमें तथा पुराणोंमें तत्कालीन आचार-विचार-विषयक या सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक इत्यादि परिस्थितियोंका निश्चित ज्ञान बहुत कम प्राप्त होता है। फिर भी श्रीमुन्शीजीने विविध आधारोंमेंसे लगभग सभी उपलभ्य ज्ञान एकत्र करके और अपनी कल्पना-

शक्तिसे उसे व्यवस्थित करके उस समयका वातावरण यथाशक्य चित्रित करनेका प्रयास किया है।

चारों नाटकोंके मुख्य पात्रोंके नाम पौराणिक हैं। मुख्य पात्रोंके जीवनकी जो घटनाएँ नाटकोंमें ली गई हैं वे भी विशेषतः पौराणिक ही हैं। उदाहरणार्थ—पुरन्दर पराजयमें च्यवनका वृद्धत्व, वृद्ध च्यवनके साथ सुकन्याका विवाह, अश्विनीकुमार व सुकन्याका आख्यान इत्यादि। हाँ, शतपथ ब्राह्मण और महाभारत में सुकन्यासे अश्विनी कुमार यह कहते हैं कि च्यवनको छोड़कर तुम हमारे साथ रहो, किन्तु 'पुरन्दर-पराजय' में सुकन्या मोहवश अश्विनीकुमारोंको बुलाती है; यही परिवर्तन 'पुरन्दर-पराजय'की आधारभूत भावनाका केन्द्र है। अन्तमें च्यवन-द्वारा इन्द्रके पराजित होनेकी घटना भी पौराणिक ही है। विदन्वन्तका उल्लेख महाभारत तथा शतपथके आख्यानमें नहीं हैं, पर च्यवनके सहायकके रूपमें उसका उल्लेख वैदिक साहित्यमें अवश्य मिलता है।

'अविभक्त आत्मा'में वसिष्ठ और अरुन्धती पौराणिक हैं। इन दोनोंका विवाह भी पौराणिक तथ्य है। अरुन्धती-वसिष्ठको पुराण भी सप्तर्षियों में गिनते हैं। वह स्पृहणीय पद इस दम्पतीने किस प्रकार प्राप्त किया यह घटना स्वतः श्रीमुन्शीजीके कथनानुसार कल्पनासे चित्रित की गई है। इस नाटकमें पौराणिक घटनाओंका प्रमाण कम है। 'तर्पण'में और्व सागर, तालजंघ और वीतिहोत्र पौराणिक नाम हैं। और्वने तालजंघोंका नाश किया और सागरको राज्य दिलाया, यह घटना भी पुराणोंमें मिलती है।

और 'पुत्रतुल्या' पुत्रसमोवड़ीमें कचका शुक्रके पास आना, असुरोंका कचको मार डालना, शुक्रका देवयानीके आग्रहसे पुनः कचको सजीव करना, कचका शाप देना, देवयानी और शर्मिष्ठाका ययातिसे विवाह, ययातिका वृद्धत्व, पिताका वृद्धत्व पुत्र द्वारा से

लेना, ययातिका स्वर्गसे गिरना इत्यादि नाटकमें वर्णित बहुतसे 'प्रसंग' महाभारतमें मिलते हैं। केवल महाभारतमें देवयानी जो बिनती करती है वह 'पुत्रसमोवड़ी' में उलट दिया गया है। वृषपर्वाको मारकर ययाति स्वर्गमेंसे फेंक देता है। यह बात भी नई है।

सारांश यह है कि श्रीमुन्शीजीने पौराणिक घटनाओंमें बहुत थोड़ा परिवर्तन किया है और बहुधा इन नाटकोंकी भावनाके अथवा पात्रोंके स्वतः विकसित व्यक्तित्वके जो प्रतिकूल पड़ता हो उसमें अवश्य परिवर्तन किया है किन्तु विशेष ध्यान यही रखना है कि ऐसा परिवर्तन यथासम्भव कम हो। परिशिष्टमें दिए हुए आख्यानोंके सारसे यदि नाटकोंकी तुलना की जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी।

इसके उपरान्त पात्रोंके वेश तथा दृश्य आदिका वर्णन, भाषा, यज्ञादि क्रियाएँ, मंत्रोंका उपयोग आदि, चित्रको पौराणिक बनानेमें पूरी सहायता करते हैं।

चित्रको पौराणिक बनानेके हेतुसे ही ऐसी बातोंका भी नाटकों-में सन्निवेश कर लिया गया है जो बुद्धिको अग्राह्य और असंभा-वित प्रतीत होती हैं, जैसे मरनेके पश्चात् पेटमेंसे सजीव होकर निकलना, वृद्धका युवा होना, एकका बुढ़ापा दूसरेको मिलना, देवोंसे साक्षात् भेंट, मंत्र और तपकी अद्‌भुत शक्ति, शाप और वरदानकी सफलता आदि।

ऊपर जो कुछ सारांशमें लिखा गया है इसके अतिरिक्त इन नाटकोंमें जो कुछ है वह श्रीमुन्शीजीकी कल्पना शक्ति और प्रतिभाका ही फल है।

पौराणिक आख्यानोंके अस्थिपिञ्जरमें श्रीमुन्शीजीने कल्पना के द्वारा रक्त, मांस, त्वचा आदि भरकर सम्पूर्ण शरीर बनाया है और इन शरीरोंमें आधुनिक भावनाओंके अनुरूप आत्मा भरकर नाटकोंको सजीव बना दिया है। कविवर कालिदासके अनुसार

लोक तो भिन्नरुचि है किन्तु मुझे तो ये नाटक अत्यन्त सजीव प्रतीत होते हैं।

दूसरे शब्दोंमें पौराणिक वस्तु अथवा पात्रोंको ही लेकर श्रीमुन्शीजीने इन कलाकृतियोंकी रचना की है। इन नाटकोंमें कला या जैसा श्रीमुन्शीजी स्वतः कहते हैं—इनमें सरसता और मनोहारिता है। इस देशके अर्वाचीन तथा प्राचीन अथवा विश्वके सर्वकालके नाट्यकारोंकी कृतियोंके साथ तुलना करनेसे इन नाटकोंको कौनसा स्थान प्राप्त होगा यह कहना मेरी शक्तिसे बाहर है। हाँ मैं इतना कह सकता हूँ कि कालिदासके शाकुंतल नाटककी तुलनामें दो रचनाएँ उतरी हुई मानी जाएँगी। किन्तु कलाके रूपमें इन कृतियोंका मूल्य आँकना कुछ समयके पश्चात् ही हो सकता है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। अर्थात् कलाका मूल्य आँकनेका प्रयत्न छोड़कर हम केवल उन भावनाओंपर संक्षेपमें विचार करेंगे जो मुन्शीजीने इन नाटकोंमें गूँथी हैं।

'पुरन्दर-पराजय'—इसमें नारीकी पवित्रता और नारीका पातिव्रत्य उसके अपने अनुभवका परिणाम है; पुरुषद्वारा बलपूर्वक स्वीकार कराया हुआ पातिव्रत्य किसी कामका नहीं है। स्त्री-पुरुषकी पवित्रता तथा पति-पत्नीकी अभिन्नतापर ही शक्ति और संस्कारोंकी शुद्धि अवलम्बित है। यह बात सच है, पर वह सच्ची पवित्रता स्वेच्छासे सेवन की जाय बलपूर्वक नहीं। यही इस नाटकका प्रधान-तत्त्व है। श्रीमुन्शीजी सुकन्यासे कहलाते हैं—

'विद्न्वन्त ! उस अभिन्नताकी रक्षा तुम्हें नहीं करनी है। मुझे—हम स्त्रियोंको उसकी रक्षा करनी होगी। इसी अभिन्नतामें ही आर्योंकी शक्ति और गौरव सन्निहित है। उन्हींपर, केवल उन्हींके बलपर ही इस संसारका चिरजीवन खड़ा किया गया है। (पुरन्दर पराजय)

ऐसा प्रतीत होता है मानों पूरा नाटक इसी भावनाको पल्लवित

करनेके लिये ही लिखा गया हो। एक ओर दयनीय स्थितिमें पड़ा हुआ वृद्ध पति, दूसरी ओर सुकन्याका खिलता हुआ यौवन, फिर देवोंमें परम रूपवान समझे जानेवाले अश्विनीकुमारोंका आकर्षण, इतना होनेपर भी सुकन्या वृद्ध च्यवनसे ही चिपटी रहती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मूल शतपथोक्त आख्यानके तथा महाभारतोक्त कवियोंने भी इसी भावनाको दृष्टिगोचर रक्खा है किन्तु सुकन्याने अश्विनीकुमारोंकी माँग ठुकरा कर बाह्य द्वन्द्वमें विजय प्राप्त की। इतनेका ही निरूपण उन प्राचीन आख्यानकारोंने किया है और सुकन्याको प्राचीन पतिव्रता नारियोंमें श्रेष्ठ स्थान दिया है। स्वर्गीय म. म. शंकरलालजी शास्त्री ने सुकन्याचरितको सावित्रीके लिये उपदेशप्रद मानकर अपने 'सावित्री नाटक" में सुकन्या-चरितका गर्भाङ्क नाटक लिखा है। किन्तु श्रीमुन्शीजीको बाह्य द्वन्द्वकी विजय बहुत अधूरी विजय प्रतीत हुई, इसलिये उन्होंने अपूर्णताका परिहार करनेके लिए सुकन्याके आन्तरिक द्वन्द्वका और उसमें ठीक अन्तिम पलमें स्वतः आत्मिक चेतना द्वारा किसी दूसरेकी सहायताके बिना प्राप्त की हुई विजयका अत्यन्त विशद निरूपण किया है। यदि अन्तःकरणकी दुर्बलतासे या रूढ़िबलसे या पूर्वाभ्यासके बलसे शांति बनी हुई हो और बाहरी आकर्षण पर मन न जाता हो तो संयम या पवित्रताका महत्त्व ही क्या? स्वाभाविक रीतिसे सत्य बोलकर कोई असत्यसे बचा रहे तो सत्यका नैतिक मूल्य क्या रहे? सत्यके पालनेके लिये जो प्रयत्न करना पड़ता है वह प्रयत्न ही सत्यका नैतिक मूल्य है।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर मेरे मतमें तो श्रीमुन्शीजीने सुकन्याके पातिव्रत्यका मूल्य बहुत बढ़ा दिया है। इस प्रकार श्रीमुन्शीजीने नीति और कलाशास्त्र-द्वारा अपेक्षित परिवर्तन करके मूल आख्यानकी सरसता बहुत बढ़ा दी है। कलास्वामियोंने प्राचीन

वस्तुके आधारपर कला मन्दिरोंकी स्थापना करते समय सदा ऐसे परिवर्तन किए हैं। महाकवि कालिदासके शाकुन्तल नाटकमें व महाभारतोक्त शाकुन्तल आख्यानमें कितना अन्तर है। ऋग्वेद कालसे कालिदासके समय तक विक्रमोर्वशीय नाटकके कितने रूप हो गए? (देखो-वसंत-रजत-महोत्सवग्रन्थमें मेरा 'कालिदास अने पुराणों' नामका लेख।)

इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टिसे भी श्रीमुन्शीजीद्वारा किया हुआ परिवर्तन अमान्य नहीं है। नाटकमें जिस कालकी घटना रक्खी गई है उस समय पीछेकी रूढ़ियाँ जमी नहीं थीं। पातिव्रत्य इत्यादिकी भावनाएँ भी धीरे धीरे उदय हो रही थीं। श्रीमुन्शीजीने कल्पना की है कि जब सदाचारके प्रति आर्योंका मन्तव्य रूप धारण कर रहा था और जब समाजमें व्यभिचार बुरा नहीं माना जाता था उस समय सुकन्या जैसी श्रेष्ठ आर्याओंने वासनाओंका तिरस्कार किया, पवित्रताको स्वीकार किया और पातिव्रत्यकी भावनाको जन्म दे कर दृढ़ किया।

अविभक्त आत्मा—इसमें स्त्री-पुरुषके विवाह-स्नेहके और इस स्नेहसे उत्पन्न अभिन्नताके महत्त्वके गीत गाए हैं। विवाह-स्नेहका दो भिन्न जीवात्माओंके अद्वैतका मूल्य संसारके सबसे बड़े पद-यहाँतक कि सप्तर्षि पदकी अपेक्षा भी अधिक है। यही अद्वैत स्त्री-पुरुषको उच्च पदके योग्य बनाता है। यही भावना श्रीमुन्शीजीने 'अविभक्त आत्मा' में व्यक्त की है। वसिष्ठ और अरुन्धती दोनों सप्तर्षि पदके लिए तपस्या करते हैं। तपकी सिद्धिके लोभसे अरुन्धती, वसिष्ठजीका अति प्रिय साथ छोड़ देती है। दाम्पत्य जीवनकी सिद्धिके सामने वसिष्ठजी आर्योंके परम वांछनीय सप्तर्षिपदको भी तुच्छ मानते हैं और ऋतुका शाप भी स्वीकार करते हैं। अन्तमें वसिष्ठ और अरुन्धती-का विवाह होता है और वे दोनों अपने अविभक्त आत्माके

दर्शन करते हैं और यह दर्शन ही इन दोनोंको एक रूपमें सप्तर्षिपदके योग्य बना देता है।

प्राचीन कालमें तपस्याका बहुत प्रचार था। अनेक भव्य जीव संसारकी अन्त सिद्धियोंकी आशा छोड़कर तपः सिद्धिकी कामना करते थे। उस समय तपकी सिद्धिका लोभ छोड़कर दाम्पत्यका स्वीकार करनेवाले अरुन्धती और वशिष्ठ जैसे आर्य स्त्री-पुरुषोंने आर्य-समाजमें गृहस्थाश्रमका गौरव बढ़ाया है। यह नाटक उसी संभावनाका चित्र है।

पुत्र समोवड़ी (पुत्रतुल्या), पुरन्दर-पराजय व अविभक्त आत्मामें कौटुम्बिक जीवनकी दो अलग अलग भावनाओंका निरूपण है और 'तर्पण' तथा 'पुत्रतुल्या' में देश-भक्त और स्वतन्त्रताकी भावना प्रधान है। पौराणिक कवियोंने ययाति-आख्यानमें-कामनाएँ उपभोगसे शांत नहीं होती, न जातु कामः; कामनामुपभोगेन प्रशाम्यति (म. भा. अ. ७९ श्लो. १२) इस भावनाको प्रधान रूपसे रक्खा है। श्रीमुन्शीजीने पुराणोक्त इस अंशको छोड़ा नहीं है। (देखो पुत्रतुल्या चतुर्थ अंक) पर उसे गौण रूप रखकर स्वतन्त्रताकी नई भावनाको प्रधानता दी है। यह भावना शुक्राचार्यके 'संजीवनी मंत्र' के नाम से श्रीमुन्शीजीने निम्नाङ्कित शब्दोंमें अंकित की है :—

डरना नहीं, हटना नहीं, झुकना नहीं, और युद्ध करना सर्वदा।

अजयमें या विजयमें, इस जन्ममें या मृत्युमें और अन्तमें परलोकमें।

इस संजीवन-मन्त्रसे मरे हुए व्यक्ति पुनरुज्जीवित नहीं हो सकते। पर इस मन्त्रको जीवनमें उतारनेवाली प्रजाका पुनरुज्जीवन अवश्य हो सकता है। श्रीमुन्शीजीका उद्देश्य भी पराधीन आर्यावर्तकी प्रजाको पुनरुद्धारका मार्ग दिखाना है।

किन्तु इस नाटकमें स्वतः स्वतन्त्र होनेकी अथवा अन्य प्रजाको

अधीन बनानेकी भावना नहीं है किन्तु समस्त जगतकी मुक्ति-मानव जातिकी स्वतंत्रता-ही इष्ट है। श्रीमुन्शीजी शुक्राचार्यसे कहलाते हैं :—

'अत्याचारी सत्ताकांक्षियोंकी पराजय, दासत्वका विनाश, स्वाधीन वीरताकी विजय, समस्त जगतकी मुक्ति—ये हमारे युद्धके ध्येय हैं' (तृतीय अंक)

इस ध्येयको सिद्ध करनेकी इच्छा रखनेवालोंको निर्भयता, अटलता, स्वाभिमान, पराक्रम आदि गुणोंको प्राप्त करनेके साथ किसीको दास न बनानेकी, समान भावसे मानव मात्रके साथ साहचर्य्य साधनेकी इच्छा रखनी चाहिए, ऐसा श्रीमुन्शोजीका आशय है।

स्वर्गको जीतनेके पश्चात् वृषपर्वा और ययाति, इन्द्र तथा देवोंको अपना सेवक बनाना चाहते हैं और परिणाम स्वरूप वृषपर्वा और ययाति—असुर और मानव—दोनों ही स्वर्गको गवाँ देते हैं, ऐसा श्रीमुन्शीजीने पाँचवें अंकमें निरूपण किया है।

इस देशको स्वतंत्र करनेके लिये देशवासियोंको विशेषतः कौन गुण प्राप्त करने चाहिएँ और प्राप्त की हुई स्वतन्त्रताको सुरक्षित रखनेके लिए—कौनसे गुण आवश्यक हैं यह सब सारांशमें इन नाटकोंमें सूचित कर दिया गया है। इन पौराणिक नाटकोंकी भावनाके विषयमें मुझे जो प्रतीत हुआ वह सारांशमें मैंने ऊपर लिख दिया है। अधिक तो सहृदय पाठकको मूलमें ढूँढ़ लाना चाहिए।

इन नाटकोंका अवलोकन समाप्त करनेके पहले एक बात यह कह दूँ कि मैं यह नहीं मानता कि इनमें त्रुटियाँ नहीं हैं। शब्दोंके चुनाव आदि भाषाके अंगोंके लिये श्रीमुन्शीजी अधिक सावधान नहीं हैं, यह प्रसिद्ध है। वे श्रीनानालाल कविके समान लालित्य-पूर्ण शब्दोंको चुनकर उनका ढेर नहीं लगाते। तात्पर्य्य यह कि

श्रीनानालाल कविका लालित्यपूर्ण शब्दबाहुल्य श्रीमुन्शीजीमें नहीं है पर मुन्शीजी प्रभावोत्पादक अर्थवाले थोड़े शब्दों द्वारा सजीव चित्र उपस्थित करनेका प्रयत्न करते हैं। शब्दबाहुल्य—लालित्यपूर्ण शब्दोंका भी बाहुल्य मुझे रुचता नहीं।

नाटकका संकलन जितना चाहिए उतना सुकलित नहीं है। क्वचित् शिथिलता दृष्टिगोचर होती है। पात्रोंके व्यक्तित्वका निरूपण मुख्य पात्रोंके सम्बन्धमें अच्छा है पर गौण पात्रोंके व्यक्तित्वका निरूपण निर्बल है। कलाकृतिके रूपमें ऐसी कुछ त्रुटियोंके रहते हुए भी समग्र चित्रकी सजीवता ही श्रीमुन्शीजीकी कृतियोंका आकर्षण है।

अन्तमें, स्वेच्छासे परस्पर निष्ठायुक्त व अविभक्त आत्माके दाम्पत्य सुखका नित्य अनुभव करनेवाले इस देशके निर्भय और अटल स्त्री-पुरुष अपने देशकी स्वाधीनता अपने पराक्रमसे ही प्राप्त करें और समग्र मानव-जातिके साथ बन्धुत्व-भावयुक्त साहचर्य्य साधें, यह इन नाटकोंका ध्येय सिद्ध हो तो और चाहिये क्या?

—दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री

पुरन्दर-पराजय

(वेदकालिन नाटक)

पात्र

च्यवन—भृगु तथा अङ्गिरस जातिके अग्निपूजक महर्षि, सामवेदके मंत्रद्रष्टा[1], भृग्वांगिरसके ऋषि, जिन्होंने इन्द्रसे वैर बाँधकर इन्द्रभक्त पक्थोंको पराजित किया[2], शर्यातोंकी सहायता करके उन्हें सप्तसिन्धुमेंसे ले आए और अग्नि की सहायतासे आनर्त देशमें ला बसाया[3], इन्द्रकी उपेक्षा करके उसे यज्ञमें सोम देना बंद किया जिससे चिढ़कर इन्द्रने उन्हें अत्यन्त वृद्ध बना छोड़ा है।

शर्याति—मनुसे उत्पन्न शर्यात नामकी जातिका राजा, च्यवनका शिष्य सुकन्याका पिता तथा आर्योंको सर्वप्रथम आनर्त देशमें ले आनेवाला।

---

१. ऋग्वेद; १. ११६. १०; ११७. १३; ११८. ६; ५. ७४. ५. ७. ६८. ६; १०. ३९. ४. पचविंश ब्राह्मण; १४. ५. १९.; १३. २६.; १४. ६. १०.

२. ऋग्वेद १०. ६१. १. ३.

३. मत्स्य पुराण १२. २२. हरिवंश; १. १०. २९. ३१; विष्णु ४. १. २१.

विदन्वन्त—च्यवन का शिष्य व भृगु। इसने च्यवनके पास रहकर इन्द्रसे लोहा लिया।

इन्द्र—वृत्रघ्न—वृत्रासुरको मारने वाला तथा आर्योंका मुख्य देव पुरन्दर।

अश्विनीकुमार—दो देवताओंका युग्म जो देवलोकके वैद्य माने जाते हैं।

गौरी—ऐक्ष्वाकी—शर्यातिकी पत्नी और सुकन्याकी माता।

सुकन्या[1]—शर्यातिकी पुत्री तथा महर्षि च्यवनकी पत्नी[2]।

आप्नवी—विदन्वन्तकी पत्नी।

शर्मित्री—रसोई बनाने वाली।

---

१. च्यवन और सुकन्या के आख्यान के लिए शतपथ ब्राह्मण ४; और महाभारत वन पर्व १२२।

२. जैमिनीय ब्राह्मण २१—११८।

प्रथम अंक

[विक्रम संवत्से ३००० वर्ष पूर्व एक दिन प्रातःकाल जबकि आर्योंकी टोलियाँ सर्वप्रथम गुजरातकी ओर आईं। आनर्त[1] प्रदेशमें नये-नये आकर बसे हुये शायात् आर्योंके कुलपति शर्याति मानवका निवास स्थान। जंगलोंके पेड़ काटकर चौरस की हुई भूमिमें मिट्टी और ताड़के पत्तोंसे बनी हुई छिट फुट झोपड़ियाँ थोड़ी दूर आगे एक टीलेपर मिट्टीका बना हुआ परकोटा। इस चौरस भूमिमें बड़े बड़े पेड़ोंकी घनी छाया में चरती हुई गायोंकी टोलियाँ, स्थान-स्थान पर बँधे हुए जंगली-घोड़े, पेड़से लटकते हुए बड़े-बड़े धनुष-बाण और कहीं-कहीं धरतीपर खुदी हुई वेदियाँ यह बताती हैं कि यहाँपर प्रतापी आर्योंका निवास-स्थान है।

एक ओर पत्थरपर शर्यातिकी पुत्री सुकन्या, अपनी माता गौरी ऐक्ष्वाकी गोदीमें सिर डालकर रोती दिखाई पड़ती है। दोनोंके शरीर स्फटिककी बनी हुई मूर्तियोंके समान मोहक दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने सामान्य आर्य स्त्रियोंके समान वल्कलके वस्त्र नहीं धारण किए हैं वरन् उनके शरीरपर आनर्तकी समृद्धि उपयुक्त हाथसे बने हुए सूतके वस्त्र तथा कानोंमें, बालोंमें और सिरपर सोनेके आभूषण हैं।]

---

१. वर्त्तमान उत्तर गुजरात जो नाम पड़ा है वह आनर्त्तसे ही पड़ा है।

सुकन्या

(हठसे सिर हिलाते हुए) माँ ! उस च्यवनके पास मैं नहीं जाऊंगी।

गौरी

(प्रेमसे सुकन्याके कंधेपर हाथ फेरती हुई) यह कैसे हो सकता है बेटी ? घबराओ मत। पहले-पहल ससुराल जानेमें सभीका जी कचोटता है।

सुकन्या

(घबराकर) माँ माँ ! वह ससुराल नहीं, वह धधकती आग है। मुझे कहाँ भेज रही हो माँ! (काँपती हुई) माँ ! आज वर्षोंसे वह मनुष्य नहीं, केवल साँस लेता हुआ शव मात्र है। वह देख नहीं सकता, सुन नहीं सकता, अपने आप उठ बैठ नहीं सकता, लकड़ी हो गया है और उसकी खाल पेड़पर झूलती हुई सूखी काईके समान लटक रही है। उसके पास जाकर करूँगी भी क्या ?

गौरी

(निराशासे) बेटी, तेरे पिताजीको भी यही चिन्ता है किन्तु उन्हें कोई मार्ग ही नहीं दिखाई देता। च्यवन महर्षिकी बात वे कैसे टाल सकते हैं।

सुकन्या

(तिरस्कारसे) तो इन सबका आखेट मैं ही बनूं। आज इस आनर्तकी समृद्धिके स्वामी और वीर शार्यातोंके पितामें

तनी भी शक्ति नहीं रह गई कि वे अपनी इकलोती बेटीकी
क्षा तक कर सकें ?

गौरी

(करुण स्वरसे) बेटी ! तू घबरा मत। वे भी तेरे
:खसे दुखी हैं। उनका वश चलेगा तो वे तुझे जाने नहीं
गे। ले, वे आ रहे हैं।

[सामनेसे शर्याति मानव आता है। वह लम्बा तगड़ा
और हट्टा कट्टा योद्धा है। उसकी मांसल और बड़ी बड़ी
भुजाओंपर सोनेके कड़े हैं, कटिमें व्याघ्र चर्म बँधा हुआ है,
उसके बिखरे हुए काले काले केश और अधपकी दाढ़ी
उसकी भव्यता बढ़ाती है, उसके मुखपर क्रोध और चिन्ता
झलक रही है। वह आकर कुछ देर तक खड़ा रहता है, फिर
गौरी और सुकन्याकी ओर देखे बिना ही एक शिलापर
एकाग्र होकर देखता हुआ बैठ जाता है। दोनों स्त्रियाँ
उसकी ओर देखती हैं और धीरेसे उसके पास आकर खड़ी
हो जाती हैं।]

शर्याति

(निःश्वास लेकर) क्या करूँ ? इन भृगुओंपर मेरा
कोई वश नहीं चल रहा है। (सोचता है) उन्होंने भी कैसा हठ
पकड़ लिया है ? (ठहर कर) और यह सब अन्याय मेरी पुत्री-
पर ! [गौरी शर्यातिके कंधेपर हाथ रखती है। शर्याति चौंकता
है, और फिर दुविधामें अपनी जटापर हाथ फेरने लगता है।]

गौरी

तब अन्याय सहन क्यों करते हो ? यह कहाँकी रीति है ? सुकन्याको लेजाकर वे करेंगे क्या ?

शर्याति

(करुण स्वर में) तुम जानती हो, यदि वे चाहें तो सुकन्याके बदले मैं उन्हें एक सहस्र गोएँ और दो सौ श्याम-कर्ण घोड़े देनेको प्रस्तुत हूँ किन्तु विदन्बन्त किसी प्रकार नहीं मान रहा है । क्या करूँ ? (सुकन्यासे) जाओ बेटी चिन्ता की क्या बात है ? वहाँ क्या तुझे कोई दुःख दे सकता है ?

सुकन्या

(चिढ़कर) आप भी ऐसा कहते हैं पिताजी ? च्यवनके पास जाकर मैं करूँगी ही क्या ?

गौरी

मानव ! इस बेचारीको वे क्यों ले जाना चाहते हैं ? यह तो आप भी जानते हैं ही कि इस असहायको ले जाकर वे उस बूढ़ेके पास छोड़ देंगे और जैसा जीवित शव वह है वैसा ही इसे भी बना देंगे । (आँसू पोंछती है)।

शर्याति

(क्रोधमें) किसमें शक्ति है कि मेरी पुत्रीको इस प्रकारकी यातना दे ?

गौरी

(दृढ़तासे) जब वे सुकन्यासे विवाह करके गए तभी

हम लोगोंने क्या कर लिया और अभी क्या कर रहे हैं कि आगे चलकर ही हम कुछ कर सकेंगे ? यह तो सदा ऐसे ही चलेगा। भृगुकी बात आपसे टाली नहीं जा सकेगी।

शर्याति

गौरी ! वर्षोंतक च्यवनने जो मुझे आश्रय दिया है वह भुलाया नही जा सकता है ? उन्हींके कारण तो आज हम लोग यहाँ इन्द्रके क्रोधसे बचकर चैनकी वंशी बजा रहे हैं। अब निर्दयी इन्द्रने मुझे छोड़कर उन्हें पकड़ लिया है और वृद्ध तथा जड़ कर दिया है। क्या ऐसी परिस्थितिमें उनसे मुँह मोड़ लूँ।

गौरी

यह मैं कहाँ कहती हूँ ? उन्हें चाहिए तो अन्न लें, गौएँ लें, शार्यातोंकी सेवा लें, पर इस भोली-भाली बच्ची और कोमल कलीको जलाए डाल रहे हैं।

शर्याति

देखो विदन्वन्त आ रहा है (ओठ चबाकर) हो सकेगा तो मैं इसे समझाऊँगा। तुम लोग बीचमें कुछ न बोलना।

[विदन्वन्त भार्गव अत्यन्त वृद्ध होनेपर भी तनकर चलता हुआ प्रवेश करता है। उसकी वेशभूषा शर्यातिके समान ही है। शस्त्र-रूपमें उसके हाथमें एक लंबे डंडेका परशु भर है।]

विदन्वन्त

मानवराज ! एक पहर दिन चढ़ आया है। हमें विलम्ब हो रहा है। सुकन्याको भेज रहे हो न !

शर्याति

भृगुवर, मैं यही सोच-विचार कर रहा हूँ कि महर्षिके पास सुकन्याको भेजनेकी आवश्यकता ही क्या है।

विदन्वन्त

(चकित होकर ऊपर देखता है) यह भी कोई विचार करने की बात है? सुकन्याका भृगुके साथही विवाह हुआ है इसलिये वह हमारे घर शोभा देगी यहाँ नहीं।

शर्याति

किन्तु महर्षि तो न बोल सकते हैं, न चल सकते हैं, ऐसी स्थितिमें उन्हें वधू हुई तो क्या, और न हुई तो क्या?

विदन्वन्त

चकित होकर मानव! आप भी ऐसे प्रश्न पूछ रहे हो? अग्निने जो महर्षिको वरदान दिया है वह क्या आप भूल गए? वे अपुत्र होकर नहीं मरेंगे।

शर्याति

(हँसकर) हःहःहःहः। इस अवस्थामें च्यवनको पुत्र! भार्गव! महर्षि तो मेरे पिताके और तुम्हारे दोनोंके गुरु होते हैं। सो शरदकी सीमा तो वे वर्षों पहले लाँघ गए हैं। अब इन्हें पुत्र कहाँ से होगा?

विदन्वन्त

(गर्वसे) अग्निने जो भृगुको वचन दिया है वह क्या कभी मिथ्या हो सकता है! केवल इन्द्रके कोपसे वह वचन नहीं फल रहा है। वह सोमका प्यासा इन्द्र हमारे हाथों

सोमपान करना चाहता है। आप समझते हो कि इतने वैरके पश्चात् रुष्ट च्यवन भार्गव उसे सोमपान कराकर उनसे हार मानेंगे ? कभी नहीं, चाहे जो हो जाय।

शर्याति

(विचार करते हुए) मैं मानता हूँ इन्द्रने हम लोगोंको बहुत सताया है। किन्तु वह बलवान् है। वह किसी भी दूसरे प्रकारसे प्रसन्न नहीं हो सकता।

विदन्वन्त

(क्रोधपूर्वक) राज शार्दूल ! तो क्या हम लोग डर कर घुटने टेक दें ? यह तुम कह क्या रहे हो ? यदि वह बली है तो हम क्या उससे कम बली हैं ! उसने क्रोध करके हमारा बिगाड़ क्या लिया ? उसने तुम्हारी गाएँ हरीं तो महर्षि च्यवनने तुम्हें नई गाएँ लाकर दे दीं। पक्थोंने तुम्हें त्रास दिया तो च्यवनने तुम्हें अभय दान देकर बचा लिया। इन्द्रके द्वेषसे तुमने सप्तसिंधु छोड़ा, तो भृगुश्रेष्ठकी इच्छासे अग्निने आर्यावर्तसे भी उत्तम इस हरे-भरे जन पदमें तुम्हारे भटकते हुए शर्यातोंको ला बसाया। आज इन्द्र और मरुत तुम्हारे यज्ञमें नहीं आते फिर भी उस महर्षिवरके प्रतापसे ही तुम्हारे यज्ञ सफल होते चले जा रहे हैं।

शर्याति

इसको मैं कहाँ अस्वीकार करता हूँ।

विदन्वन्त

तब किस भय से हम गृहपति अग्निके वचन मिथ्या

होने दें। राजन् (चमकती आँखों तथा अभिमान भरे शब्द-से) इसी इन्द्रका मद भंग होगा। हव्यवाहनका वचन सफल होगा और च्यवन भार्गवका सुपुत्र प्यासे इन्द्रका तिरस्कार करके चाहे जिस देवताको सोमपान करायेगा। इसलिये शंका न करो। सुकन्याको भेज दो।

शर्याति

(नम्रतासे) विदन्वन्त ! और तो कुछ नहीं पर मेरी यह इकलौती पुत्री जानेका नाम सुनकर आपेसे बाहर हो गई है।

विदन्वन्त

(कठोरतासे) वह क्या कह सकती है। वह तो बच्ची है। क्या उसके कहनेसे देवों और महर्षियोंकी आज्ञा ठुकराई जा सकती है ? (आँखें निकालकर देखता है।)

गौरी

(बीचमें बात काटकर) हम आज्ञा कहाँ ठुकरा रहे हैं। यह लड़की जाना ही नहीं चाहती। उसका जी हम कैसे दुखी कर सकते हैं।

विदन्वन्त

ऐक्ष्वाकी ! क्या तुमने मुझे छोटा सा बच्चा समझ लिया है। इस शर्यातीके अधिकारी तुम नहीं महर्षि हैं। उसका स्थान शर्यातोंमें नहीं, भृगुओंमें है। इतने पर भी तुम्हें भेजना स्वीकार न हो तो स्पष्ट कह दो। मैं तो लौट जाऊँगा, किन्तु (भयंकर स्वरसे) भृगुओंका क्रोध क्या कर डालेगा।

इसपर भी विचार किया है ! (शर्याति चिन्तापूर्वक देखता है) एक शार्यात भी सुख से नहीं बैठ सकेगा। तुम्हारी दस सहस्र धेनुओंमेंसे एक भी यहाँ न रह सकेंगी। पुरन्दरको बिना पान कराये तुम्हारा सोम तुम्हारी बुद्धि और शौर्यका नाश करेगा और भृगुके प्रिय देव अग्नि तुम्हारे पूरे आनर्तको जलाकर भस्म कर देंगे। (कहते-कहते रुक जाता है। शर्याति, गौरी और सुकन्या काँपते हैं, थोड़ा नम्र होकर) मानव व्याघ्र! यह पागलपन छोड़ दो और पचास वर्ष की यह मैत्री इस प्रकार मत तोड़ो। तुम्हें अग्निका वरदान और च्यवनकी आशा फलते हुए देखना है या इस अबोध बच्चीकी इच्छा देखनी है।

शर्याति

(बहुत ही नम्रतासे) सत्य है विदन्वन्त। (सुकन्या निस्तेज होकर देखती है) भार्गव ! सहर्ष जाइए और सुकन्याको साथ लेते जाइए। मैं च्यवनसे द्रोह नहीं करूँगा।

विदन्वन्त

ये ही शब्द शर्याति मानवको शोभा देते हैं।

शर्याति

किन्तु ऋषिवर इस बेचारीको कोई अभाव न खले। बच्चीके साथ मैं अपना हृदय भी सौंपता हूं। यह शर्यातिके आँखोंकी पुतली है। यह आनर्तकी अधखिली कली है।

विदन्वन्त

(हँसकर) मानव श्रेष्ठ ! चिन्ता न करो। तुममें और

इसमें न तो कभी भेद था और न है। तुम्हारी तो यह आँखकी पुतली है, किन्तु हमारे लिये तो यह अदितिसे भी श्रेष्ठ सम्पूर्ण भार्गव जनपदकी जननी है। इसके कोंखसे हमारा कुलपति जन्म लेने वाला है। तब वहाँ किस बातकी कमी रहेगी।

शर्याति

मणिमय वैदूर्य पर्वतके चमकते हुए शिखरपर किस बातकी कमी हो सकती है? किन्तु यह माता-पिताका हृदय! अच्छा, (सुकन्या से) जाओ बेटी।

विदन्वन्त

(सुकन्यासे, मानपूर्वक) माता, शर्याति चलो।

सुकन्या

(हाथसे मुख ढककर रो पड़ती है) माँ, माँ, मेरी क्या गति होगी?

गौरी

(सुकन्याको गले लगाकर आँसूभरे नयनोंसे) बेटी, सब ठीक हो जायगा। घबरा मत। चुप रह। ले, अपने पिताको प्रणाम कर, विलम्ब हो रहा है।

[सुकन्या रोती सिसकती शर्यातिके पैर पड़ती है। शर्याति हाथसे अपनी आँखें पोंछता है। गौरीकी आँखें भी बरस पड़ती हैं।]

शर्याति

(अवरुद्ध कंठसे और सुकन्याका सिर सूंघते हुए)

धीरज धरो बेटी, मैं और तुम्हारी माता दोनों वर्षाके प्रारम्भ होते ही तुमसे मिलने आ जायँगे ।

[सुकन्याको आशीर्वाद देते हुए]

सुकन्या ! तेरा और तेरे पतिका कल्याण हो ।

[त्रिष्टुप छन्द]

मन समान, समान मंत्र, समान चित्त, समान वृत्ति होवे ।
उस समर्थ ब्रह्मणस्पति भगने ठाना यह सारा यशस्वी योग ।
वृद्धि अभिवृद्धि वीर्यमें हो, राष्ट्रमें दम्पति बढ़ चलें ।
दे त्वष्टा सर्वतः शांति, तुष्टि, पुष्टि, दीर्घ आयुष्य ।

विदन्वन्त

चलो विलम्ब हो रहा है और रथके घोड़े भी अधीर हो रहे हैं ।

[आगे आगे विदन्वन्त और पीछे सिसकियाँ लेती हुई सुकन्या जाती है ।]

गौरी

(खिन्न होकर) राजन् ! इस बच्चीको हम लोगोंने कुण्डमें ढकेल दिया ।

शर्याति

(निःश्वास लेकर) गौरी इन्द्र तो रूठा ही हुआ है और जिसके बलपर हम कूदते हैं उसे भी कैसे शत्रु बना लें ?

गौरी

यदि अग्निका वचन फल जाय तब तो कोई बात ही नहीं ।

शर्याति

जैसा पुरन्दर द्वेषी है वैसे ही भृगु भी हठी हैं। दो बली झगड़ रहे हैं; क्या होगा कुछ समझमें नहीं आ रहा है। [बातें करते हुए दोनों जाते हैं। दूर जानेपर चिदन्वन्तका गंभीर उच्च स्वर ऋचा गाता हुआ सुनाई देता है।]

अनुष्टुप

हों अग्नि वाचा यशस्वी, हतवीर्य वृत्रहा हो।
यशस्वी भृगुजन वर्दे यशस्वी मुनि भार्गव हों॥

द्वितीय अंक

[लगभग दो मास पश्चात् वर्षाके प्रारम्भकी एक सन्ध्या। भार्गव जनपदमें वैदूर्य पर्वतपर च्यवन ऋषिकी पर्णकुटी। उसके आसपास पर्वतके ढालपर और उपत्यकामें अनेक छोटी मोटी पर्णकुटियाँ हैं।

च्यवनकी कुटीके पास एक छोटासा तालाब है। थोड़ी दूरपर विधूसरा नामका जलप्रपात है। और दूरपर क्षितिजके पास बहती हुई विशाल रेवाके उछलते नीरका कल्लोल सुनाई देता है। पेड़ोंमेसे पवनकी सरसराहट सुनाई देती है। आकाशमें कुछ बादल एकत्र होते दिखाई देते हैं।

कुटियामें घास और पत्तोंपर बिछे हुए मृगचर्मकी शैयापर च्यवन भार्गव सोए पड़े हैं। वे केवल अस्थिपञ्जर मात्र रह गए हैं। उनकी आँखें भीतर धँस गई हैं। उनका मुख ठोड़ीकी हड्डीके जैसा दिखाई देता है। उनकी खाल काली और कठोर होकर लटकी पड़ रही है, उनकी पोली पड़ी हुई दाढ़ी उलझे हुए सूतके समान उनकी मुखमुद्राको और भी भयानक बना रही है। छातीतक उन्हें मृगचर्म उढ़ाया गया है। मूर्छित अवस्थामें वे कुछ गुनगुनाते हैं।

पास ही एक दूसरे मृगचर्मपर औंधा मुख करके सुकन्या सो रही है।

पर्णकुटीमें शमित्री आती है। वह अत्यन्त ही वृद्धा और कुबड़ी स्त्री है। उसके हाथमें दूधसे भरा हुआ मिट्टीका पात्र है।]

शमित्री

(सुकन्याके पास आकर) माता शर्याति !

सुकन्या

(चौंककर जागती है और घबराई हुई आँखोंसे चारों ओर देखती है।) क्या है ?

शमित्री

महर्षिके लिये क्षीर लाई हूँ।

सुकन्या

(भौंहें चढ़ाकर) थोड़ी देर विश्राम भी नहीं करने देती।

शमित्री

(मानसे किन्तु दृढ़तापूर्वक) माता ! महर्षिके भोजन का समय हो गया है।

सुकन्या

(चिढ़कर) महर्षिके तो मरनेका समय हुआ है मरनेका, और किसी बातका नहीं।

शमित्री

(घबराकर पीछे हटती है।) माँ, माँ, यह क्या कह रही हो। महर्षि रुष्ट हो जायँगे।

सुकन्या

(पागलके समान सूखी हँसी हँसकर) यह रुष्ट हो सकता है ? ऐसा कबतक मानती रहोगी कि यह मृतक जी रहा है।

च्यवन

(मूर्छित अवस्थामें) ऊँ ओं ऊँ (गलेकी घरघराहटमें ध्वनि विलीन हो जाती है ।)

शमित्री

(हाथमें का पात्र नीचे रखनेकी तैयारी करके आँखें फाड़कर) देखा ? ऐसे मत कहा कीजिए नहीं तो महर्षि उठकर शाप दे देंगे ।

सुकन्या

(घबराकर) शाप ही देनेके बहाने सही, ये उठें भी तो । मैं भी तो यही देखना चाहती हूँ ।

शमित्री

(धीरेसे सुकन्याके कानमें) देखो कहीं भूल न कर बैठना । ये तो इन्द्रके कोपसे इस प्रकार जड़ हुए पड़े हैं ।

सुकन्या

(तिरस्कारसे) मैं जानती हूँ कब यह क्रोध अपनी पूर्णताको पहुँचेगा कि हम दोनों एक दूसरेसे मुक्त हो जायँ ।

शमित्री

(मुख फाड़कर देखती है, उसके वृद्ध ओठ हिलते हैं) यह आप क्या कह रही हैं । फिर हम लोगोंकी क्या गति होगी ? यदि हमारा कुलपति अपुत्र मर जायगा तो हम कहींके नहीं रहेंगे और इन्द्रकी विजय हो जायगी । (दृढ़तासे सिर हिलाकर) यह कभी नहीं हो सकता ।

सुकन्या

(उकताकर स्वगत) यह भी मुई पगली है। आज तू ही महर्षिको क्षीर पिला।

शमित्री

(हाथ हिलाकर) नहीं, महर्षि क्रोधित हो जायँगे। मैं उन्हें कैसे छू सकती हूँ।

सुकन्या

(चिढ़कर) तब मैं तो कुछ खिलाऊँ-पिलाऊँगी नहीं। मुझे तो इसे छूनेमें डर लगता है।

[दूरसे विदन्वन्तका ऋचा बोलता हुआ स्वर सुनाई देता है। सुकन्या सुनती है और निष्प्रभ होकर काँप उठती है।]

(द्वारकी ओर देखते हुए) क्या वह यहीं आ रहा है?

शमित्री

हाँ, ऐसा ही जान पड़ता है, तुम महर्षिको भोजन कराना तो आरम्भ करो।

सुकन्या

(स्वगत) यह न जाने कहाँसे ऐसे समय आ टपकता है। (शमित्रीसे) पात्र इधर तो लाओ पर तुम भी यहीं बैठी रहो, मुझे डर लगता है।

शमित्री

(धरती पर बैठकर) लो बैठती हूँ।

[सुकन्या पात्र लेकर च्यवनके मुखसे लगाती है किन्तु उनका भयानक मुख देखकर पीछे हट जाती है।]

सुकन्या

(काँपती हुई) शमित्री ! तूही यह क्षीर चटा । मुझसे इसका मुख देखा नहीं जाता, शमित्री !

[सुकन्या दूर हटती है । विदन्वन्त चुपचाप द्वारपर आ खड़ा होता है । संध्याके धुँधले प्रकाशमें उसकी प्रचंड देह और मुखमुद्रा बहुत ही भयानक लगती है । उसके हाथमें भाला है ।]

विदन्वन्त

(शांतिसे) माता ! महर्षि भोजनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

सुकन्या

(भयसे विदन्वन्तकी ओर देखते हुए) शमित्री ही भोजन करावेगी । मुझसे इसके पास ही नहीं जाया जाता ।

विदन्वन्त

शर्याति ! महर्षि अपनी पत्नीके सिवाय और किसीके हाथसे भोजन नहीं करते ।

सुकन्या

(विदन्वन्तकी ओर देखती है और दाँत पीसती है) मैं नहीं खिलाऊँगी । समझे ! भले ही महर्षि भूखे मरें । (पात्र धरतीपर रख देती है)

विदन्वन्त

(उच्च श्वाससे) माता ! महर्षिका अपमान हो रहा है, समझीं !

सुकन्या

(तिरस्कारसे) इसे तो कुछ भी नहीं हो रहा है।

विदन्वन्त

(अधिकारपूर्वक उँगलीसे पात्रकी ओर संकेत करके) मैं कहता हूँ महर्षिको भोजन कराओ।

सुकन्या

(क्रोधसे पैर पटककर) नहीं कराऊँगी, जो तुमसे बने वह करो। अधिक तंग करोगे तो मैं यहाँसे चली जाऊँगी। मैं अधिक समयतक यह सब यातना नहीं सहन कर सकती।

विदन्वन्त

(दृढ़तासे) किसकी शक्ति है कि महर्षिकी पत्नीको यातना दे। माता ! माता ! शांत हो जाओ।

सुकन्या

(आगे आकर) मुझे न तो शांत होना है न तुम्हारा कहना मानना है। मुझे यहाँ रहना ही नहीं है।

विदन्वन्त

(हँसकर) इस अन्धकारमें कहाँ जाओगी माता ! (बाहरके अन्धकारकी ओर हाथ करता है)

सुकन्या

जहाँ मन होगा। इस जनपदमें नहीं तो दूसरेमें। क्या मुझे कहीं भी ऐसा स्थान नहीं मिलेगा जहाँ शान्तिसे रह सकूँ ? कल प्रातःकाल तो मेरे पिताजी भी आ पहुँचेंगे।

विदन्वन्त

(शान्तिसे) यह सम्पूर्ण जनपद आपका ही है, आपकी आज्ञाके आधीन है। जहाँ आप जायँगी वहाँ कुलपतिके अनुरूप आपका स्वागत होगा। इसलिये आप घबराइये मत।

सुकन्या

(कानपर हाथ धरकर, च्यवनकी ओर हाथ करके) इसकी पत्नी मैं इसकी पत्नी! बनकर नहीं रहूँगी, जो हो मैं यहाँ पलभर नहीं ठहर सकती (द्वारकी ओर जाती है।)

विदन्वन्त

(शान्तिसे द्वार रोककर) माता! मैं तो आपका पुत्र हूँ किन्तु आप ऐसी चपलता कीजिएगा तो महर्षि क्रोधित होंगे।

सुकन्या

होने दो क्रोधित, हट जाओ।

विदन्वन्त

(अनसुनी करके) पहले भी महर्षिकी एक पत्नी थीं। वह भी जब इस प्रकार जाने लगीं तो अग्निने उन्हें जलाकर भस्म कर डाला। जितना बड़ा आपका पद है उतना ही उसके साथ संकट भी है।

सुकन्या

(विदन्वन्तका हाथ हटानेके लिए उसके हाथ पर हाथ रख) मुझे संकटकी चिन्ता नहीं है, जाने दो मुझे।

(आकाशमें बिजली कड़कती है।)

(दृढ़तासे) देखो, द्वेषी इन्द्रका क्रोध फिर आरम्भ हो गया है। आप कैसे बाहर जायँगी ?

सुकन्या

(विदन्वन्तके हाथसे सटकर) कैसे जाऊँगी ? मैं तो जाऊँगी ही। यदि और कोई नहीं तो तुम्हारा शत्रु इन्द्र ही मेरी सहायताके लिये दौड़ा आवेगा। (बिजली कड़कड़ाती है) आ ! आ ! इन्द्र। (द्वारमेंसे बाहर देखकर) आ शतमन्यु ! तेरे शत्रु शर्यातिकी पुत्री और तुझसे वैर करनेवाले च्यवनकी पत्नी मैं सुकन्या तेरा आवाहन करती हूँ। आ वृत्रहा ! पुरन्दर ! अपनी रुकी हुई नदियोंमें बाढ़ ला दे। आ वज्री ! अपने वज्र से इन पापियोंका विनाश कर। (बाहर बिजलीसे पूरा आकाश चमक उठता है। और भयंकर गर्जनके साथ मूसलाधार वर्षा होती है। सुकन्या प्रार्थना भरे नयनोंसे बादलोंकी ओर देखती है। विदन्वन्त कुछ निस्तेज सा पड़ जाता है।)

च्यवन

(मूर्च्छितावस्थामें) ऊँ-ऊँ-ऊँ

विदन्वन्त

(क्रोधसे उसका स्वर काँपने लगता है और वह सुकन्याके मुँहपर हाथ रखने जाता है) यह क्या करती हो शर्याति ! महर्षि च्यवनकी आज्ञा है। चुप हो जाइये (उसका स्वर वर्षाकी पड़पड़ाहट में भी स्पष्ट सुनाई देता है। क्रोधसे

ओठ चबाते हुए वह विदन्वन्तकी ओर देखती है और ऐसा लगता है मानों उसकी आँखोंमें से चिनगारियाँ निकल रही हों। सुकन्या उसकी भयंकर मुखमुद्रा देखकर स्तब्ध हो जाती है) बस एक शब्द भी न बोलिएगा।

सुकन्या

(चिल्लाकर) पुरन्दर! आ। [बाहर बारबार बिजली चमकती है और ऐसा भास होता है मानो द्वारके सामने बिजली गिरी हो।]

विदन्वन्त

(दोनों हाथोंसे रोककर) और मैं रोक रहा हूं।

(स्वरमें मानों मंत्र पढ़ता हो) सावधान वृत्रहा मैं विदन्वन्त भार्गव तुझे रोक रहा हूँ। कवि उशनसका वंशज और च्यवनका शिष्य मैं, मार्ग रोककर खड़ा हूँ। तेरा बल टूट जाय, तेरा क्रोध निरर्थक हो जाय। सावधान मघवा! वैश्वानरका मान्य मैं अथर्वण, तेरी अवज्ञा करता हूँ। जा तेरे वज्रमेंसे तेज चला जाय, तेरे गर्जनमेंसे भय निकल जाय।

[बिजली चमकती है। स्तब्ध बनी हुई सुकन्या घबराकर पीछे हटती है। विदन्वन्त हाथ ऊँचाकर आवाहन करता है।] हे अग्नि! हे भृग्वान! आपका उपासक मैं विदन्वन्त आपको बुला रहा हूँ। भृगु आपको पृथ्वीपर लाए हैं उनकी लाज रखनेके लिये मैं आपका आवाहन करता हूँ। आइए अपने प्रिय अश्वत्थ और शमोके निमंत्रणपर चले आइये।

[विदन्वन्त दो लकड़ियाँ घिसता है और अग्नि उत्पन्न करके वत्ती सुलगाता है और कोनेमें लकड़ीकी छालसे भरी हुई वेदीमें अग्नि प्रज्वलित करता है। सुकन्या विक्षिप्तके समान सब देखती है।]

(ऋचा)

ज्योति प्रकटो व्रतपति,
वह्नि ! प्रकटो विभूषित व्रते ॥
स्वीय करो समर्पित समिधा,
समायुत सुवासित घृते ॥
बढ़े धूम, बढ़ो अविरत, बढ़ो बादल तक
बढ़ो घेर ही लो वैरी को ॥
ज्वाला बढ़े, व चमक बढ़े
अविरत बढ़ो, बढ़कर शत्रुको भस्म करो ॥

(अग्निसे) गृहपति ! मैं आपको यहाँ स्थापित करता हूँ। आप हमारा भय दूर कीजिए (कलशमेंसे दूध कुण्डमें उँडेलकर) हव्यवाहन। लीजिये मैं यह क्षीर हवन करता हूँ। हमारी लाज बचाइए और अपना वचन सफल कीजिए।

[विदन्वन्त हाथ जोड़ता है। वेदीमेंसे ज्वाला निकलती है और चारों ओर प्रकाश हो जाता है। विस्मयसे आँखें फाड़-फाड़कर देखनेवाली सुकन्या इस ज्वालाको देखकर घबराहटमें हाथसे आँखें ढक लेती है। आकाशमें दूर जाते हुए बादलोंकी गड़गड़ाहट सुनाई देती है और वर्षा बन्द हो जाती है।]

सुकन्या

(बोलनेका प्रयत्न करती हुई) ओ-ओ। (वह चारों ओर देखती है किन्तु आँखोंमें झाई आ जानेसे वह धरतीपर गिर पड़ती है। विदन्वन्त कुछ देरतक चुपचाप खड़ा रहता है। थोड़ी देर पीछे खुलते हुए बादलोंमेंसे निकलते हुए चन्द्रके प्रकाशको देखकर वह दाँत खोलकर हँसता है और सोए हुए च्यवनको प्रणाम करता है।)

विदन्वन्त

(च्यवनके प्रति) महर्षि ! आज वृत्रघ्नको पुनः पराजय और आपकी विजय हुई है। (थोड़ी देर पीछे धरतीपर औंधे मुँह पड़ी हुई और काँपती हुई शमित्रीपर उसकी दृष्टि पड़ती है) शमित्री ! शमित्री !

शमित्री

(काँपती काँपती उठती है) महाराज !

विदन्वन्त

आज फिर इन्द्रने मार खाई है।

शमित्री

(हाथ जोड़कर) मैंने देखा है, ऋषिवर्य्य !

विदन्वन्त

(सुकन्याको दिखाकर) इन्द्रके कोपसे माता मूर्च्छित हो गई हैं। वे उठें तो कहना कि वे महर्षिको भोजन करा दें, नहीं तो मुझे बुला लेना।

[विदन्वन्त च्यवनको प्रणाम करके चला जाता है। बाहर उसका ऋचा बोलता हुआ स्वर सुनाई देता है।]

(ऋचा)

जंतु, जीव दस्यु, देव,
संयुक्त जो सर्व यौवने।
मेटें मेटें वे शत्रु को,
करे भस्म वैश्वानर॥

[शमित्री विदन्वन्तका स्वर सुनती है, उसके बंद होनेपर वह सुकन्याके पास जाती है और उसकी मूर्च्छा दूर करनेका प्रयत्न करती है। थोड़ी ही देर में सुकन्या अँगड़ाई लेती हुई उठ बैठती है और भयभीत होकर चारों ओर देखती है।]

सुकन्या

ऐं, यह मैंने क्या देखा ? स्वप्न ? कौन शमित्री ? (वेदीमें अभीतक अग्नि दिखाई देती रही है, उसे देखकर) क्या सच्ची बात है। क्या सचमुच विदन्वन्तने इन्द्रको पराजित किया और अग्निकी स्थापना की ? (आँखोंपर हाथ रखती है।)

शमित्री

(धीरेसे) हाँ माता ! अभी आपको हमारे बलका अनुमान नहीं हुआ। यह सब महर्षिका प्रताप है। उठो इन्हें भोजन कराओ। बहुत विलम्ब हो गया है।

सुकन्या

(च्यवन और पात्रको देखकर फिर काँप उठती है) शमित्री ! क्या विदन्वन्त फिर लौटकर आनेवाला है ?

शमित्री

हाँ आ भी सकते हैं। उठो।

च्यवन

(मूर्च्छित अवस्था में) ऊँ-ऊँ।

शमित्री

देखो, महर्षि अधीर हो रहे हैं।

सुकन्या

(डरती डरती उठती है, पात्र उठाती है) शमित्री ! मुझे बहुत डर लग रहा है। विदन्वन्त बड़ा शक्तिशाली है।

शमित्री

माताजी, आपने महर्षिकी शक्ति पहले नहीं देखी है। इनके सामने तो विदन्वन्त कुछ भी नहीं हैं।

सुकन्या

(च्यवनको पात्रसे दूध पिलाती है, किन्तु दृष्टि शमित्री की ओर ही रखती है) तुमने महर्षिको पहले पहल कब देखा था।

शमित्री

(स्मरण करनेका प्रयत्न करते हुए) कब बताऊँ ? भृगु

लोग सिंधुके तटपर वसे हुए थे, मेरे पिता यदु थे, मैं छोटी सी थी, तुमसे भी छोटी, तभी दुर्दम भार्गव मुझे यहाँ ले आए।

सुकन्या

(खिलाते हुए रुकती है और दबे हुए भावपूर्ण स्वरसे) तब महर्षि मेरे बराबर थे ?

(पोपले मुँहसे हँसती है) नहीं माताजी, आपसे थोड़े बड़े थे। विदन्वन्तके पौत्रके बराबर समझो।

सुकन्या

(आँखें फाड़कर) विदन्वन्तके पौत्र हैं ? मेरे बराबर ?

शमित्री

हाँ तीन हैं ! एक तो आपसे भी छोटा है। माताजी ! महर्षिको भोजन कराती रहो।

सुकन्या

[पुनः च्यवनको खिलाती है।] तब वे यहाँ क्यों नहीं आते ?

शमित्री

विदन्वन्त ऋषिकी आन है। यहाँ पर कोई युवा आ नहीं सकता।

सुकन्या

[क्रोधसे] कहीं मैं उनसे मिल लूँ, इसीलिये न ? [शमित्री उत्तर दिए बिना ही बैठी रहती है।] जब तुमने पहले-पहल महर्षिको देखा था तब वे कैसे थे।

क्या बताऊँ ? जब हम सरस्वतीके तीरपर आकर बसे तब महर्षि कितनी ही बार आकर आश्रमके बाहर बैठते थे, और हम चुपचाप दूरसे उनके दर्शन कर आते थे। माताजी ! आपका रूप-रंग क्या है ? अच्छी अच्छी आर्याएँ इनका रूप-रंग देखकर इनपर मोहित हो जाती थी।

(सुकन्या रस आ जानेसे उमंगमें आकर देखती है। फिर चेतना आनेपर च्यवनकी ओर देखती है और काँपते हाथोंसे मुख पोंछती है।)

सुकन्या

शमित्री ! यह चमड़ी, यह खाल, मेरे समान थी ?

शमित्री

तुम्हारे समान ! जब वे गर्वीले होकर बहुत सी स्त्रियोंके बीचमें घूमते तो उन सबसे अधिक सुन्दर दिखाई देते थे।

सुकन्या

और विदन्वन्त भी बली थे ?

शमित्री

विदन्वन्त और तुम्हारे पिता दोनों समान बली हैं, किन्तु ये दोनों भी महर्षिके धनुषपर चिल्ला तक नहीं चढ़ा सकते थे। ये जब गर्वीले होकर घूमते थे और युद्धक्षेत्रमें उतरते थे तो इन्द्र और वरुण भी थर्रा जाते थे।

सुकन्या

[खेदसे] और आज ये ! [खड़ी हो कर आधा आत्म-

-गत] इसी शवको देखकर स्त्रियाँ मोहित होती थीं। ये ही बड़े भारी वीर हैं। इन्हींके धनुषका चिल्ला शर्याति मानव भी नहीं चढ़ा सकते थे। ये ही गर्वीले होकर घूमते थे और आज ये मुझे पहचान भी नहीं पा रहे हैं। तो मेरे हाथ यह यातना कैसे सहन कर पावेंगे ? मेरा आलिङ्गन ये कैसे कर पावेंगे।

शमित्री

[विश्वास दिलाते हुए] माता ! पुरन्दरका क्रोध दूर हो जाय तो महर्षि अभी उठ बैठें।

सुकन्या

[सिरपर हाथ रखकर] अरी मेरी मैया ! जब तक पुरन्दरकी पराजय न हो तबतक न तो मैं बाहर जा सकूँगी न मेरी अवस्थाका कोई उत्तर आ पावेगा। कितना बड़ा अन्याय है। [शमित्रीसे] ये कितने समयसे ऐसे पड़े हैं ?

शमित्री

यों तो केवल सात ही वर्ष हुए हैं।

सुकन्या

सात वर्ष ! तुझे थोड़े लगते हैं बुढ़िया ? और यह क्रम कब तक चलता रहेगा ? मैं समझती हूँ कि जबतक मैं मरूँ या ये मरें तभीतक चलेगा ! (च्यवनकी ओर देखकर) और यह मरेगा कब ? [ठहरती है] यह तो ऐसेका ऐसा ही पड़ा रहेगा और मैं, मैं, मेरा क्या होगा ? अरी मैया ! (रो पड़ती है।)

शमित्री

घबराती क्यों हो ? अग्निका वचन फला कि सब दुःख टला।

सुकन्या

क्या अग्निका वचन फलेगा ! (विचार करके स्वगत) यह विद्न्वन्त ऋषि अथर्वण और इन्द्रका विजेता, यह भी मानता है कि फलेगा। क्या यह झूठा हो सकता है ? (सिर हिलाती है और तिरस्कारसे च्यवन की ओर देखती है।)

शमित्री

माता ! मैंने जो तुम्हें भर्ग्वांगिरस्का मंत्र सिखाया है उसका तो प्रयोग करके देखो।

सुकन्या

क्या अपना सिर प्रयोग करूँ ?। (विचारकर) अच्छा जा, जल तो ले आ, यह भी कर देखूँ।

शमित्री

(जल लाकर) यह है जल, अब मैं बाहर जाकर सो जाती हूँ।

सुकन्या

नहीं, तू यहीं खड़ी रह।

शमित्री

मैं यहाँ रहूँगी तो मंत्रसिद्धि नहीं होगी माताजी ! (जाती है।)

सुकन्या

(तिरस्कारसे हँसकर स्वगत) कहीं मेरी नई अभिलाषाएँ पूरी होती-होती न रह जायँ ।

(सुकन्या फिर च्यवन के पास जाती है, उसके पैर पड़ती है, फिर जल लेकर उनपर छींटे देती है और ऋचा पढ़ती है ।)

(ऋचा)

जो देवोंने जलसे सींचा,
तालावेलीयुत स्मर ।
वह मैं जगाऊँ तुममें,
वरुणके धर्मसे ॥
विश्वदेवोंने जलसे सींचा,
तालावेलीयुत स्मर ।
वह मैं जगाऊँ तुममें,
वरुणके धर्मसे ॥
इन्द्राणीने जलसे सींचा,
तालावेलीयुत स्मर ।
वह मैं जगाऊँ तुममें,
वरुणके धर्मसे ॥
इन्द्राग्निने सींचा जलसे,
तालावेलीयुत स्मर

वह मैं जगाऊँ तुममें,
वरुणके धर्मसे ॥
मित्रावरुणने सींचा जलसे,
तालावेलीयुत स्मर ।
वह मैं जगाऊँ तुममें,
वरुणके धर्मसे ॥

[सुकन्या आशाभरी आँखोंसे देखती है । च्यवन जैसीकी तैसी दशामें पड़े रहते हैं । सुकन्या सिर पीट लेती है ।] अरे कहीं मृतक भी साँस लेते हैं ? ओः, अब मेरा क्या होगा ? (बैठकर आँखोंपर हाथ ढँककर रोती है ।) थोड़े दिनोंमें इसी प्रकार दिन बीत जायँगे और मैं शमित्रीके समान वृद्ध हो जाऊँगी । क्या मैं इसी प्रकार अपना जीवन नष्ट हो जाने दूँ ? किसलिये ? (विचार कर) अग्निका वचन फले, भृगुकी विजय हो, क्या इसीलिये ? किन्तु इस मृग-जलके पीछे ये लोग पागल होकर मरें तो क्या इसीलिए मुझे भी इसी प्रकार सड़ते रहना चाहिए ? (सिरपर हाथ रखकर बैठती है । अपने शरीरकी ओर देखकर मैं तो नवयुवती हूँ, मेरे हृदयमें उमंग है, मेरी नसोंमें नई अभिलाषाएँ हिलोरें ले रही हैं । मैं इन भृगुओंके हठके लिये क्यों प्राण दूँ ? किस-लिये ? (खड़ी हो जाती है) अग्निका वचन निष्फल हो या च्यवन अपुत्र मर जाय इससे मुझे क्या लेना देना ? (च्यवनकी ओर क्रोधसे देखती है) क्या मुझे सुख नहीं चाहिए, क्या

अपने अंग में यों हीं गला डालूँ, अपनी उछलती हुई आशाएँ निरर्थक वहा दूँ, अपने रूप और यौवनको विना फले फूले मुरझाने दूँ—किसलिये अग्नि! कोई पूछे किसलिये? (द्वारकी ओर देखती है, द्वारमेंसे चन्द्रका प्रकाश आने लगता है।) कैसी मधुर और मनोहर चाँदनी है। (द्वारके पास आकर) आकाश कैसा सुहावना हो रहा है? (अपने हाथकी ओर देख कर) मेरा शरीर कैसा सुन्दर लगता है? मेरे हाथ, मेरा यौवन, ये पैर कैसे अनोखे हैं? (निःश्वास डालकर) पर इस रूपको लेकर, इस सुन्दरताको लेकर क्या करूँ! कोई ऐसा नहीं दिखाई देता जो इस खिली हुई चाँदनीमें इसे आँख भर देखे और मेरे प्यासे हृदयकी प्यास बुझावे! (दाँत पीस-कर) इन भृगुओंके दुराग्रहको सन्तुष्ट करनेके लिये क्या इन सबको जलकर भस्म हो जाने दूँ! नहीं कभी नहीं। (सिर धुनती है और पगलीके समान चारों ओर देखती है और उछल पड़ती है। आन्तरिक वेदनासे व्यथित होकर) ओः। यह हाथ तरसता है किन्तु कोई गले लगाने वाला नहीं है। ये ओठ किसीके ओठ छूनेके लिये तरसते हैं। यह हृदय किसीके साथ लिपटनेके लिये व्याकुल है। पर कहीं कोई नहीं दिखाई देता। ओः क्या कोई नहीं है। (आँखें ढक लेती है। थोड़ी देर पश्चात् हाथ हटाकर पीछे लौटकर च्यवनकी ओर बढ़ती है।) मुझे इस बूढ़ेसे क्या प्रयोजन? कुछ नहीं, नहीं कुछ नहीं। इनका जो चाहे भी हो; इनके विजयकी मैं क्यों

चिन्ता करूँ। मैं तो अपनी विजय चाहती हूँ, अपनी ही हाँ—अपने रूपकी, अपने यौवनकी अपनी मोहकता की। मैं वनपतियोंकी दुलारी बनकर विचरा करूँगी या किसी देवकी गोदीमें चढ़कर स्वर्गमें बिहार करूँगी, पर इस प्रकार कभी नहीं रहूँगी। जीवन एक निराली ही विलासमय वेला हो जायगी और मेरी शक्ति, सुखके नए नए साधन ढूँढ़नेमें ही लगी रहेगी, बस यही ठीक है। (सुकन्या गर्वसे देखती है। उसकी छाती उछलती है और आँखें मदोन्मत्त दिखाई देती हैं। वह द्वारके बाहर आकर एक पत्थरपर बैठती है।) कैसी सुन्दर रात है। (अपने बाल सिंहकी अयालके समान छितरा देती है।) पर इस समय मिलेगा कौन? यहाँ तो चारों ओर भृगु रहते हैं। उनकी तो मैं देवी ही हूँ। (हँसती है) और कौन मिलेगा! (आकाशकी ओर देखकर) क्या देवों, पितरों या मनुष्योंमें कोई ऐसा नहीं है जो मेरी इच्छाएँ पूरी कर सके। क्या कोई मेरे हृदयकी उमंगें शान्त नहीं कर सकता? (चारों ओर देखती है। निराशापूर्ण स्वरसे) क्या मेरी प्रार्थना निरर्थक चली जायगी? मनुष्य तो भृगुकी धाकसे थर्राते हैं, पर क्या देवों में भी कोई ऐसा नहीं है जो मुझपर दया करे। (रोनी-सी बनकर) क्या कोई नहीं आयगा? शर्याति मानवकी देव दुर्लभ पुत्री आज अपनेको समर्पण करनेके लिये खड़ी हुई है। आओ कोई तो आओ। (चिल्लाती और प्रार्थना करती हुई ऊपर देखती है। चाँदनीमें

प्रकाशका एक गोला सा बन जाता है और उसमें सर्वांग सुन्दर अश्विन् प्रकट होते हैं ।]

अश्विन

(धीरेसे) सुकन्या ।

(आँखें खोलकर चौंककर पीछे हटती है ।) कौन ?

अश्विन

घबराओ मत । तुम्हारी प्रार्थना सुनकर ही हम अश्विन आए हैं ।

सुकन्या

(सुखपूर्ण मुसकानके साथ) अश्विनो ! देवोंके भी देव ! आप आइए ? आइए मेरी याचना स्वीकार कीजिए । मुझे ले चलिए । (आगे बढ़ती है)

अश्विन

सावधान सुन्दरी ! यहाँ भृगुकी आन है । आगे पैर रक्खा तो जलकर भस्म हो जाओगी ।

सुकन्या

तब आप ही आइए; आइए । (हाथ फैलाकर आलिंगनकी प्यासी खड़ी रहती है ।)

अश्विन

हम रात में नहीं आ सकते । और फिर हम तो सदा युवा ही रहते हैं इसलिये विदन्वन्तकी आन तोड़कर तुम्हारे पास आ भी कैसे सकते हैं ।

सुकन्या

(करुणपूर्ण मुद्रासे) तब !

कल सन्ध्या समय विदन्वन्त नहीं आवेगा। जब तुम उस सरोवरमें च्यवनको स्नान कराने ले जाओगी उस समय हम आ जायँगे और तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार कर लेंगे।

सुकन्या

(सहर्ष) देवाधिदेवो ! आपने बड़ी कृपा की। [आनन्दके मारे आँखें बन्द कर लेती है। अश्विन अदृश्य हो जाते हैं। सुकन्या आँखें खोलकर हँसती है और अपने दोनों हाथोंसे छाती दबाती है।] हृदय ! अधीर न हो। कलकी सन्ध्या तो बातकी बातमें आती है। [धीरेसे लौटती है और च्यवनकी ओर देखती है।] प्रणाम ! महर्षि अब चाहे सपुत्र मरे या अपुत्र, मुझे कोई चिन्ता नहीं है। विदन्वन्त ! अब कोई और ही आर्या आकर तेरा कुलपति उत्पन्न करेगी।

[हँसती-हँसती बिस्तरेपर लेट जाती है और थोड़ी देर में सो जाती है।]

तृतीय अंक

[वैदूर्य पर्वतपर सन्ध्या हो रही है। केवल क्षितिजपर थोड़े बादल दिखाई देते हैं। अस्त होनेकी तैयारी करती हुई सूर्यकी किरणें च्यवनकी पर्णकुटीके पासके छोटेसे सरोवरके पानीपर चमक रही हैं।

च्यवनको सरोवरके तीर पर सुलाया गया है। उनके पास विदन्वन्तकी स्त्री आप्नवी और सुकन्या खड़ी हुई है। आप्नवी वृद्धा और गौरवशील लगती है, कुछ वर्षों पूर्व वह स्वरूपवान रही होगी ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है।

[सुकन्याके रूपमें आज बहुत ही परिवर्तन दिखाई दे रहा है। उसकी आँखोंमें मद है, उसके फीके मुँह पर ललाई है, उसके पैरोंमें अस्वाभाविक उत्साह है।]

सुकन्या

[आस-पास देखकर] आप्नवी! क्या विदन्वन्त मेरे पिताका स्वागत करने गए हैं?

आप्नवी

नहीं। वे एक और कामसे गए हैं। एक आर्याने जनपदको कलंक लगा दिया है, उसे दण्ड देने गए हैं।

सुकन्या

क्या कलंक लगाया है?

आप्नवी

वह एक नागके साथ निकल गई थी।

सुकन्या

[चकित होकर] ऐं !

आप्नवी

और क्या ! ऐसा न करें तो सब आर्याएँ नागलोककी स्त्रियोंके समान स्वच्छन्दी न बन जायँ। फिर भृगुओंमें रह कौन जायगा।

[सुकन्या स्तब्ध होकर चुप रह जाती है।] चलिए माताजी ! महर्षिको स्नान करानेका समय हो गया है। आप नहा आइए।

सुकन्या

(निःश्वास लेकर) अच्छा। (स्वगत) क्या कोई उपाय नहीं, कुछ नहीं। यह अन्तिम बार है। (आप्नवीसे) अच्छा, मैं नहा आती हूँ।

आप्नवी

हाँ, मैं यहाँ बैठती हूँ।

[सुकन्या उछलती कूदती हुई जाती है, शाटिका (साड़ी) तटपर रखकर सरोवरमें उतरती है और कमर भर पानीमें जाकर खड़ी हो जाती है।]

सुकन्या

(हँसकर स्वगत) कैसा सुन्दर सरोवर है! कैसा निर्मल

इसका जल है ! और एक सूर्यके कितने सूर्य पानीमें उछल रहे हैं। अश्विनोंके आनेमें अभी विलंब है। (सोचने लगती है।) अश्विन मुझे ले जायँगे या यहीं छोड़ देंगे यह पूछना तो मैं भूल ही गई। किसी प्रकार यहाँसे ले जाते तो झंझट मिट जाती। पितासे न मिल सकूँगी, न सही। पर इस पर्वतको और भृगुओंको तो नमस्कार। देखूँ मुझे अश्विनोंके पाससे विदन्वन्त किस प्रकार लौटा कर लाता है। (हँसती है।) और यहीं रहना पड़े तो क्या बुराई है! यह मणिमयशृंग—ये खिलौनेके समान जलाशय, यह सहचरीके समान विधूसरा और आकाशके साथ विहरती हुई रेवा, ये सब और कहाँ मिलेंगे? (नीचे मुख करके जलमें अपना मुख देखती है।) मैं कैसी लगती हूँ? मेरे केश कितने सुन्दर हैं? (बालोंकी लटें छातीपर इकट्ठी करती है।) मानो नागके पाश हैं! (जलमें पुनः घूर-घूरकर देखती है।) और कितने कोमल मेरे चरण हैं? मैं पुरुष होती तो इन्हें आँखसे ओझल न होने देती (जलमें एक पग आगे जाकर शरीर झुलाती है मानों कमलिनीको मरुत झुका रहे हों) और अश्विन भी कितने स्वरूपवान हैं! उनकी कान्ति कितनी देदीप्यमान होती है! उनकी भुजाएँ भी सबल हैं। जब मैं उनमें लिपट जाऊँगी, तब मेरा सारा दुःख जाता रहेगा। (नहाने लगती है) सरोवर! आज मुझे शुद्ध कर देना। मेरे शरीरको अदृष्ट तेजसे देदीप्यमान कर देना।

आज मैं देवोंकी दयिता बनने वाली हूँ (हाथसे जलमें लहरें उठाती है ।) और जिस प्रकार मैं ये लहरें उठा रही हूँ वैसे ही तू भी मेरे हाथमें लहरें उठाना । (छातीपर हाथ रखती है) प्यारे हाथ ! अभीसे मत नाच, धीरज रख । सच्चा नाच तो तब नाचना जब तेरे नाचनेवाला आ जाय । अभी थोड़ा विलंब है । (नहाकर बाहर आती है और साड़ी पहनती है ।) आप्नवी ! जाओ यह कलश भर लाओ ।

आप्नवी

माता ! महर्षि आज अस्वस्थ लगते हैं । उनका ध्यान रखिएगा ।

सुकन्या

(अधीर बनकर) जाओ भी, विलम्ब हो रहा है । (आप्नवी जाती है ।) इसे कैसी अस्वस्थता ?

च्यवन

(मूर्छित अवस्था में) ऊँ ऊँ ऊँ ।

सुकन्या

(हँसकर) महर्षिवर ! (धीरे धीरे) अब आजसे तुम और मैं दोनों एक दूसरेसे छूट जायँगे । झख मारा करें तुम्हारे विदन्वन्त और तुम्हारे अग्नि । (कुछ लजाकर) ना अग्नि-देव तो नहीं । उनका वचन भी फलेगा और तुम्हारा अपुत्र मरण भी नहीं होगा । अश्विनोंका पुत्र इस भार्गव जनपदका कुलपति बनेगा । (हँसती है ।)

[आप्नवी जल लेकर आती है]

आप्नवी

माता ! मैं पानी तो लाई पर चंदन और पुष्प तो छूट ही गए ।

सुकन्या

(स्वगत) चलो झंझट मिटी (आप्नवीके प्रति) जाओ जाकर ले क्यों नहीं आती ।

आप्नवी

थोड़ा विलंब हो जायगा ।

सुकन्या

हो जाने दो । (आप्नवी जाती है ।) इस समय अश्विन आ जायँ तो बड़ा अच्छा हो । (पैरकी आहट आती है, उससे चौंककर) अरे यह कौन ?

[एक युवती हाँफती हुई आती है और सुकन्याके पैरोंसे लिपटकर धरती पर गिर पड़ती है । वह आँखें फाड़कर देख रही है, उसके बाल बिखरे हुए हैं, उसका साँस फूल रहा है, जान पड़ता है वह दूरसे दौड़कर आई है । उसके माथेपर रक्तकी बूँदें दिखाई देती हैं ।]

स्त्री

(हाँफती हुई) माता शर्याति, कहीं छिपाओ और मुझे बचाओ । मुझे कोई देखेगा तो टुकड़े-टुकड़े कर डालेगा ।

सुकन्या

पर तू है कौन ? और यहाँ कहाँसे चली आ रही है ?

स्त्री

माता ! मैं भार्गव वधू हूँ। मेरा वध करनेके लिए विदन्वन्त मुझे ढूँढ़ रहा है।

सुकन्या

(आश्चर्यसे) क्या तू ही नागके साथ भाग गई थी ?

स्त्री

नहीं ! मैं भाग नहीं गई थी। मुझे क्षमा करो, मैं अपने पतिकी छठी स्त्री हूँ। वर्षोंतक उसने मेरी ओर देखा तक नहीं। वह नाग मेरी सेवा करता था, मुझे रिझाता था, मैं अकेली थी, एकाकी थी, मैं क्या करूँ। मैं अबोध हूँ, बालक हूँ। मुझमें यौवनका मद है, मैं भ्रष्ट हो गई। मैंने आर्य कुलको कलंक लगाया है। (धरतीपर सिर रखकर सिसकियाँ लेकर रोती है।)

सुकन्या

(उन स्त्रीको उठाकर) उठो बहन !

स्त्री

(विनयपूर्वक) पर माताजी ! मैं क्या करूँ ? (च्यवनकी ओर देखकर) मैं आपके समान पवित्र और कुलीन ही नहीं तो फिर आप जैसी आर्याओंकी नीतिपर मैं कैसे चल सकती हूँ। मैंने मनको बहुत मारा पर सँभाल न पाई,

मुझपर दया करो। माताजी मुझे विदन्वन्तके क्रोधसे बचा दीजिए। मुझे वह जीता न छोड़ेगा। मुझे कहीं छिपा लीजिये। माताजी! मैं भृगुओंपर ऐसा कलंक नहीं लगाऊँगी।

सुकन्या

घबराओ मत बहन! मैं तुम्हारी सहायता करूँगी। मैं तेरा बाल बाँका न होने दूँगी। तूने ऐसा अपराध ही क्या किया है कि इतना बड़ा दंड दिया जाय।

स्त्री

(चकित होकर) माताजी! आप हँसी करके मुझ मरी हुईको और भी मारना चाहती हो। मैं अपराध स्वीकार करती हूँ। अब तो मुझसे हो ही गया है। मुझे छिपा लीजिए। अभी वे ऋषि आते ही होंगे। (चारों ओर देखती है।)

सुकन्या

और कहाँ छिपाऊँ? हाँ इस सरोवर में चली जा और उन कमलके फूलोंके पीछे अपना मुख छिपा ले, जा। (स्त्री दौड़कर पानीमें छिप जाती है। सुकन्या सोचती हुई खड़ी रहती है।) मुझे यह शुद्ध और कुलीन मानती है, मुझसे यह क्षमा-याचना करती है, कैसी अज्ञान है? मैं भी तो इसीके जैसी हूँ। मैं भी बालिका हूँ। मुझे भी अपार दुःख है (विचार करती है) आर्यकुलको कलंक लगेगा ही। यह तो ठहरी एक सामान्य आर्या! किन्तु मैं (च्यवनकी ओर

दृष्टि करके) मैं आर्यश्रेष्ठ च्यवन ! तुम्हारी भार्या हूँ और अश्विन मुझे स्वीकार करेंगे । अर्थात् तुम्हारी पराजय होगी, इन्द्रकी विजय होगी और तुम अपुत्र रहकर ही मरोगे । हाँ ! मुझे पुत्र होगा पर तुम्हारा नहीं । (सिर हिलाती है ।) वह कुलपति होगा किन्तु आधा शार्यात और आधा आश्विन । मेरा ही पुत्र इस जनपदपर राज्य करेगा । और ये भृगु मेरे अभृगु पुत्रके दास बनकर रहेंगे । इनके यज्ञ और अभिषेक वह अभृगु करावेगा । इनका भृग्वांगिरस अभृगु उच्चारण करेगा और सिखावेगा और भृगु द्वारा लाया हुआ भृग्वान अभृगुसे प्रकट होगा । (ठहरकर) सब आर्य इन भृगुओंका गर्व नष्ट होनेपर हँसेंगे । (हँसती है फिर गंभीर विचारमें पड़ती है । च्यवनकी ओर) भृगुवर्य आंगिरस ! तुम्हारे ही रूपपर अनेक आर्याएँ मोहित होती थीं । तुम्हारे ही बलसे अनेक वीर त्रस्त थे किन्तु तुम्हारी सब आशा नष्ट हो जायगी । (हँसकर) मेरे कारण महर्षिवर ! पक्थोंको परास्त करने वाले और शार्यातोंके महागुरु ! काव्य और इन्द्रजेता ! मंत्रद्रष्टा सामग अग्नभक्त अथर्वण ! तुम्हारा गर्व और प्रताप, तुम्हारे कुलका नाम और संस्कार आज मैं तुम्हारे शिष्यकी पुत्री, एक निर्बल बाला, घड़ी दो घड़ीमें धूलमें मिला देनेवाली हूं । (चुप-चाप देखती है ।) अश्विन अभी तक क्यों नहीं आए । सूर्य तो अस्त होनेको आए । (संध्याके मधुर वातावरणमें

प्रकाशका गोला बनता है और तेजस्वी अश्विन उसमें आकर प्रकट होते हैं। सुकन्या देखती है।)

अश्विन

सुकन्या सुन्दरी ! क्या विचार कर रही हो।

सुकन्या

कौन ? देवोंके भी देव अश्विन ! आगए ? मैं आपकी ही बाट जोह रही थी। चलो, अब मुझे ले चलो। (आतुरतासे हाथ आगे बढ़ाती है)

अश्विन

धीरज धरो बाले ! अभी क्या सोच रही थी ?

सुकन्या

(अधीर होकर) उसकी चिन्ता न कीजिये देव ! मैं तो आपके ही नामकी माला जप रही हूं।

अश्विन

जब तुम्हें हमारी होना है सुकन्या, तो तुम्हारे मनकी बात जाने बिना कैसे काम चलेगा ? हमारा व्रत अन्य दूसरे देवोंसे पक्का और निराला है। हमने आधि और व्याधिको अपनी वेदी माना है। और वेदनासे उत्पन्न दुख-को हम अपना आवाहन मंत्र मानते हैं। जहाँ सुखका अभाव हो वहाँ सान्त्वना देना हम अपना परम कर्तव्य समझते हैं।

सुकन्या

तो देव ! मेरे पास भी सुख कहाँ है, मुझे भी तो सान्त्वना ही चाहिए ।

अश्विन

हम तो तुम्हारे हृदयकी ही व्यथा देखकर आए हैं और अब तुम अपना शरीर हमको देना चाहती हो । किन्तु जब तक निःशंक और निर्भय हृदय सच्ची लगनसे उपहारमें न मिले तबतक हम तुम्हें स्वीकार न करेंगे । हमारे व्रतका यह निश्चल नियम है । क्या तुम नहीं जानती हो कि भयंकर इन्द्र और सर्वभक्षी अग्निको दिए जानेवाले सोम और हविमें हम भाग नहीं लेते । यह सोम और हवि हम त्याज्य समझते हैं । क्योंकि यह तो मनुष्यकी कायरता और निर्बलता द्वारा दी गई घूस है । इसलिये हम पहले ही जान लेना चाहते हैं कि तुम कैसे हृदयसे अपना हृदय समर्पण करती हो ।

सुकन्या

(विचार करके सक्षोभ) क्षमा करो देव ! में पाँच पल पहले आनन्दमें थी और तुमसे मिलनेके उल्लासमें उछल रही थी । मैंने निःशंक हृदयसे तुम्हें निमंत्रित किया है और निरंकुश मनसे ही मैं अपनेको समर्पित करती हूँ । मैं दुखी हुई केवल महर्षिके दुर्भाग्यसे तो मैं जाऊँगी च्यवनकी टेक सदाके लिये चली जायगी, विदन्वन्तका ठाना हुआ महायुद्ध निष्फल हो जायगा, भृगुओंपर कलंक लगेगा और-और—

अश्विन

(दयार्द्र स्वरसे) क्या ?

सुकन्या

(चौंककर) और जिन आर्योंपर जातिकी शुद्धता अवलंबित है वे मेरा उदाहरण लेकर दूषित होंगी। स्वच्छन्द नाग-वधुएँ आर्याओंके गौरवका उपहास करके उन्हें मेरे ही समान अधम समझेंगी।

अश्विन

तो क्या हम लौट जायँ ?

सुकन्या

(विनयपूर्वक) नहीं नहीं देव ! वापस न जाओ। मुझे किसीकी चिन्ता नहीं है। मुझसे यह नहीं सहन होता। मैं अपना रूप और यौवन इस एकान्तमें और निराशामें मुरझाने नहीं दूँगी। ले चलो मुझे (अनुरोधपूर्वक) नहीं न करना।

अश्विन

हम तो तैयार हैं, पर इस भृगुको स्नान करा लो, इसका समय हो गया है।

सुकन्या

अच्छी बात है। (च्यवनको स्नान कराती है। स्वगत) भार्गव ! आर्याके हाथों स्नान कर लो आज अन्तिम बार। इसके बाद तुम तो वही रहोगे संस्कारी आचार्यों में भी श्रेष्ठ और शुद्ध महर्षि, किन्तु मैं—मैं नहीं रह पाऊँगी आर्या या

अथर्वणकी अर्धांगिनी। मैं तो बन रही हूँ अश्विनोंकी प्रतिमा, (ठहरकर) साधारणी! (ओठ चबाकर) इस वृद्ध और निश्चेतन पुरुषकी स्त्री होनेसे तो साधारणी होनेमें सुख है। (च्यवनको नहला देती है। अश्विनोंसे) देव! महर्षिको स्नान करा दिया। अब आऊँ!

अश्विन

अच्छा, अब पल भर स्वस्थ हो लो। एक बार फिर विचार कर लो। अपने हृदयकी इच्छाको भली प्रकार भाँप लो, यदि इस आर्यश्रेष्ठको छोड़कर हमारे साथ विहरनेकी इच्छा पक्की और प्रबल हो तो चली चलो हमारे साथ।

सुकन्या

(अधीर होकर) मैं तो बड़ी प्रसन्न हूँ।

अश्विन

(धीरेसे) किन्तु विचार कर लो। जीवनका आश्रम बदलते समय शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। हम थोड़ी देर खड़े होकर बाट जोहते हैं।

सुकन्या

(नीचे देखती हुई खड़ी रहती है और विचार करती है, थोड़ी देर ठहरकर स्वगत) मैं क्या विचार करूँ? हृदयकी इच्छा तो अश्विनोंके साथ जानेकी है और इस जनपदका अमंगल हो, आर्योंकी शुद्धिको कलंक लगे और शर्याति मानवकी पुत्री मैं, पर पुरुषके स्पर्शसे साधारणी बन जाऊँ! (आँखपर

हाथ रखकर) वह भी मैं नहीं सहन कर सकती । मेरे हृदयकी क्या इच्छा है ! (क्षमा याचना करते हुए) मरुतो, जात-वेदों ! भृग्वान् ! कोई तो बताओ कि मैं क्या करूँ ! कोई तो बताओ कि मेरे हृदयकी क्या इच्छा है ! (सुकन्या आँखों-पर हाथ रखती है । क्षितिजपर बादल गरजते हैं । दूर पेड़पर मोर बोलते हैं । संध्याका रंग मनोहर हो जाता है ।) इस सन्ध्यामें अकेले कैसे रहा जा सकता है ! हृदयकी केवल एक ही इच्छा हो सकती है—अश्विनोंके साथ चली जायँ । भले ही दूसरोंको जो चाहे सो हो । (दूर बादल गरजते हैं ।)

चयवन

(मूर्छित अवस्था में) ऊँ ऊँ एँ—

सुकन्या

(चौंककर स्वगत) यह आल्हाद और यह मोह पुरन्दर तो नहीं प्रेरित कर रहा है ! क्या इस भृगुपर विजय प्राप्त करनेके लिये यह द्वेषी देव मेरा मन सदोन्मत्त कर रहा है ! क्या इन्द्र मेरे पिता और पतिकी टेक हरनेका मुझे साधन बनाना चाहता है ! (सुकन्या आकाशकी ओर देखती है, विदन्वन्त हाथमें परशु लेकर दौड़ता हुआ आता है । वह सावधानीसे चारों ओर देखता है । पीछे दो अन्य योद्धा आयुध लेकर आते हैं और अलग अलग दिशामें जाकर देखते हैं ।)

विदन्वन्त

कहाँ गई वह पापिनी ! (सुकन्याको देखकर) माता! कोई युवती यहाँ भागकर आई हुई है ! (सुकन्या चौंककर ऊपर देखती है ।)

एक योद्धा

(सरोवरकी ओर उँगली दिखाकर) वह रही, वह स्त्री महाराज ! (वह योद्धा जलमें उतरता है और छिपी हुई स्त्रीके बाल पकड़कर बाहर खींचता है ।)

स्त्री

(क्रन्दन करके) महाराज ! माता मुझे बचाओ । मुझे विदन्वन्त मार डालेंगे । माँ, माँ कोई तो दया करो (उस स्त्रीको योद्धा पकड़कर विदन्वन्तके सामने खड़ा कर देता है । वह स्त्री थरथर काँपती है । विदन्वन्तकी आँखें क्रोधसे विकराल बन जाती हैं । वह परशु उठाने ही वाला है । सुकन्या उस स्त्रीकी ओर और विदन्वन्तकी ओर देखती है ।)

अश्विन

सुकन्या, तुम क्या उत्तर देती हो ! (विदन्वन्त अश्विनोंका स्वर सुनकर उस ओर घूमता है ।)

विदन्वन्त

कौन अश्विन ! प्रणाम ! आप कहाँसे !

सुकन्या

(तेजस्वी मुखसे) देव ! आपको मेरे हृदयकी इच्छा

जाननी है ? (उसकी छाती उछलती है। उसे एक हिचकी आती है) उत्तर चाहिये ! (च्यवनकी ओर देखती है और फिर विदन्वन्त की ओर घूमती है।) यह है उत्तर। ठहरो विदन्वन्त ! इस स्त्रीको दण्ड देनेसे पहले तुम्हें दूसरेको दण्ड देना है।

विदन्वन्त

(क्रोधपूर्ण स्वरसे) किसे !

सुकन्या

(विदन्वन्तके पास आकर सिर झुका लेती है।) भृगुवर्य ! तुम्हारा प्यासा परशु मेरे लिये है, इस निर्जीव स्त्रीके लिये नहीं।

(अश्विन चौंकते हैं। विदन्वन्त चौंककर पीछे हट जाता है।)

विदन्वन्त

क्या कहती हो ?

सुकन्या

(आँखोंसे आँसू गिरते हैं फिर भी साहससे) हाँ मेरा वध करो, ऋषिवर्य ! मेरे अपराधके आगे यह बेचारी अबला अत्यन्त निर्दोष है। उसे ज्ञान नहीं है। वह क्षुद्र है। उसने केवल अज्ञानतामें, मूर्खतामें भूल की है। सच्ची अपराधिनी तो मैं हूँ। मैं अबला नहीं, अज्ञानी नहीं, संस्कारहीन नहीं, मैं मनु और यमके वंशज, शर्यातिके समान प्रतापी आर्य

शार्दूलकी आत्मा हूँ। फिर भी मैंने अपने पतिकी आनका ध्यान नहीं किया, उनके इस विशाल जनपदके कल्याणका विचार नहीं किया, आर्योंके संस्कारकी चिन्ता नहीं की, और न भृगुओंके विजयका ही विचार किया। मैं—इस जनपदकी माता और आर्याओंमें श्रेष्ठ, मैं इस समय अधमसे भी अधम हूँ। अश्विनोंको मैंने निमन्त्रित किया है। मन और वचनसे मैंने इनके साथ अधम आचार प्रारम्भ किया है। इसे मारकर क्या करोगे? मुझे मारो।

विदन्वन्त

(अश्विनोंकी ओर देखता है।) ये देव क्या तुम्हारे आवाहन पर आए थे? (आखें निकालकर) च्यवन भार्गवकी पत्नी ने—

सुकन्या

हाँ विदन्वन्त! ये मेरे बुलानेपर आये—

अश्विन

(हँसकर) और ऋषिवर! जैसे हम आए, वैसे ही कोरा लौटानेका भी भार्गवीने निश्चय किया है।

विदन्वन्त

(न समझकर और क्रोधको बड़े प्रयाससे दबाकर) कैसे?

सुकन्या

हाँ, मैंने अश्विनोंको बुलाया और अब उन्हें लौटा रही

हूँ और अभी अभी मेरे ध्यान में यह भी आया है कि जो दंड मुझे तुम देने वाले थे अब वह स्वयं मैं अपनेको दूँगी।

विदन्वन्त

(चकित होकर) आप क्या कह रही हैं ?

सुकन्या

मैं अपनी दुर्बुद्धिकी कथा क्या कहूँ ऋषिवर्य ! मैं तुम्हारे अन्यायसे नहीं डरती थी। तुम्हारे पराजयकी भी मुझे चिन्ता नहीं थी। मुझे तो विलास चाहिए था (शरमाकर) और मैंने इस शार्यातिने, च्यवन की पत्नीने इन देवोंको वचन हार दिया। पीछे मुझे बुद्धि आई। मुझे शुद्ध रखना तुम्हारा कार्य नहीं है विदन्वन्त ! यह मेरा काम है। मैं केवल शार्याति ही नहीं हूँ, यह शरीर भी मेरा नहीं है। मुझे स्वच्छन्दता पूर्वक अपनी वासना तृप्त करनेका भी अधिकार नहीं है। मैं और महर्षि एक और अभिन्न हैं। अग्निको साक्षी देकर हम एक हुए हैं। मैंने जहाँ उनका ऋषिपद प्राप्त किया है वहीं उनका बुढ़ापा भी स्वीकार किया है। अब मैं भिन्न कैसे हो सकती हूँ ?

विदन्वन्त

(न समझनेके कारण) इसीलिये तो मैं आपको किसीसे मिलने नहीं देता था।

सुकन्या

विदन्वन्त ! उस अभिन्नताकी रक्षा तुम्हें नहीं करनी

है। हम स्त्रियों पर उसकी रक्षाका भार है। इसी अभिन्नतामें आर्योंकी शक्ति और उनका गौरव सन्निहित है, उन्हींपर संस्कारोंकी शुद्धि भी अवलंबित है और उन्हींके बलपर ही इस संसारका चिर जीवन खड़ा किया गया है और फिर (हिचकी लेकर) ऋषिश्रेष्ठ! मैं महर्षि च्यवनकी भार्या इस अभिन्नताकी रक्षा नहीं कर सकी। इनके लिये मैं अपने यौवनकी आहुति न दे सकी। और पराएके स्नेहके स्पर्शपर मैं फूली नहीं समाई। मैं आर्या नहीं पशु हूँ।

विदन्वन्त

(विस्मित होकर) माता! आप क्या कह रही हैं। मेरी कुछ समझमें नहीं आ रहा है।

ऋषिवर! मैंने क्या किया है, वह तुम पुरुष कहीं समझ सकते हो? मैंने भृगुओंसे द्रोह किया। मैंने ऐसा काम किया है कि आर्याएँ सदैव वीरताका पोषण करने में असमर्थ बनी रहें। मैं महर्षि च्यवनसे अलग हुई। उनका सड़ा हुआ अंग बनी रही। इसलिये भार्गव! तुम अपना काम करो और इस अपराधिनीका वध करो। [सुकन्या सिर झुका लेती है! विदन्वन्तकी आँखोंसे आँसू बरस पड़ते हैं। अश्विन हर्षित और दीप्त होकर खड़े रहते हैं। इतनेमें शर्याति मानव कुछ शार्यातोंके साथ आते हैं और इन सबको देखकर चकित होकर खड़े रह जाते हैं।]

शर्याति

विदन्वन्त ! सुकन्या ! यह सब क्या हो रहा है ?

अश्विन तथा विदन्वन्त

(एक साथ) कौन ! मानवराज ?

शर्याति

हाँ ! (अधीरतासे) कौन ! अश्विन ! प्रणाम। विदन्वन्त ! यह क्या कर रहे हो ?

विदन्वन्त

(सहर्ष) मानव ! तुम्हारा और हमारा कुल आज तर गया। माताने आज एक नया पाठ सिखाया है।

शर्याति

(चकित होकर) क्या ?

विदन्वन्त

अभी तक कुलकी प्रतिष्ठाके लिए स्त्रियोंकी रक्षा हम लोग करते थे मानव ! किन्तु शर्यातिने एक नया ही मंत्र दिया है।

शर्याति

कौन सा !

विदन्वन्त

(हँसकर) पति और पत्नीके ऐक्यका, अभिन्नताका। माता कहती हैं कि इस ऐक्य और अभिन्नताकी साधना जो करे वही आर्या है, अन्य नहीं हो सकती। और यौवनके मदमें इन्होंने जिन अश्विनोंको आमंत्रित कर लिया था, उन्हें ये

उलटे पैरों लौटा रही हैं। आज भृगुओंके सौभाग्यका दिन है मानव ! (सुकन्या चकित होकर ऊपर सिर उठाती है।)

अश्विन

(मानसे) केवल भृगुओंके ही नहीं, आर्योंका कहो भार्गव ! आर्य संसारको आज नया जीवन प्राप्त हुआ है। इस शर्यातिने जो मार्ग दिखाया है उसपर चलनेवाली आर्याओंको तो देवता भी वंदना करेंगे। [सुकन्या] आपको प्रणाम है। दंपतिके बीच उत्पन्न होनेवाले समस्त दुःख आज आपने एकही मन्त्रसे निवारण कर दिए हैं। (शर्याति अभिमानसे सुकन्याकी ओर देखता है।)

सुकन्या

देव ! मैं तो बालिका हूँ। मैंने क्या किया है ? मेरे हृदयमें जमे हुए आर्याओंके सनातन गौरवने ही मुझे यह बुद्धि दी है। क्षमा करना अश्विनो ! मैंने आपको व्यर्थ ही कष्ट दिया। अपने लोकको पधारिए देव ! मेरा स्थान अब इन महर्षिके चरणोंमें है।

विदन्वन्त

(प्रणाम करके) माता ! आपने तो भृगुओंको आज बड़ी भारी विजय दिलवाई है। महर्षि च्यवनका पुत्र आपकी कोखसे जन्म लेगा और पुरन्दरकी निश्चय पराजय होगी।

अश्विन

(हँसकर) भृगुश्रेष्ठ! इस माताके पुत्रोंका उदय होनेमें

देर नहीं है। हम जैसे अनन्त यौवन वालोंके होते हुए भी भार्गवीको च्यवन ही अच्छे लगे तो ऐसी महासतीका निर्णय निष्फल कैसे हो सकता है। (च्यवनसे) इसलिये महर्षि! हम अपनी सनातन युवावस्थाका तुम्हें भी भागी बनाते हैं। तुम्हारी व्याधि दूर हो जाय, देवोंका भी कोप हो तो वह मिट जाय।

[आकाशमें विजली कड़कती है और पृथ्वी काँप उठती है।]

शर्याति

देव! इन्द्र कुपति हो रहे हैं।

अश्विन

वृत्रघ्न! दुखीकी सेवा करनेमें ही अपनी सफलता माननेवाले हम लोग, दम्पतिकी एकताको समझने वाली महासती और विजयके लिए परम कष्ट सहनेवाले ये आर्य-श्रेष्ठ तेरे क्रोधसे डरनेवाले नहीं हैं। यदि हम तीनोंमें आन्त-रिक बल हो तो च्यवन! तुम वार्धक्य छोड़कर ठीक वैसे ही अजर और ओजपूर्ण रूपमें उठ खड़े हो जाओ जिस रूपमें सुकन्याने नया सत्य घोषित किया है। [आकाशमें बिजलीकी गड़गड़ाहट होती है और चारों ओर अन्धकार छा जाता है। अन्धकारमें जहाँ च्यवन सोए हुए हैं वहाँसे प्रौढ़ और प्रतापी स्वर सुनाई देता है।]

स्वर

देव! सुकन्या! विदन्वन्त! आज भृगुओंकी विजय हुई है।

शर्याति-विदन्वन्त

(चौंककर) कौन ! महर्षिवर्य !

सुकन्या

(हृदयपर हाथ रखकर) ये कौन ?

अश्विन

(आकाशमेंसे) महा अथर्वण च्यवन !

च्यवन

(अँधेरेमें) विदन्वन्त ! अश्वत्थ और शमीकी लकड़ी तो दो । अभी तेरा पूर्ण पराजय नहीं हुआ है पुरन्दर ! (विदन्वन्त अश्वत्थ और शमीकी लकड़ियाँ रखता है । च्यवन उन्हें लेकर और अरणी मन्थन करके (रगड़कर) अग्नि प्रकट करते हैं ।) शोचिष्केश ! प्रकट हो जाओ । देवाधिदेव हव्यवाहन वृत्रघ्नका त्रास दूर करो । (च्यवन वहाँ पड़ी लकड़ियोंमें अग्नि स्थापित करते हैं इसलिये अग्निमें लपटें उठने लगती हैं । ज्वालाके प्रकाशमें धरतीमें पड़े हुए ज्वर-ग्रस्त शरीरके स्थानपर युवा च्यवन खड़े दीखते हैं । सुकन्या घुटनोंके बल हाथ आगे बढ़ाती है । शर्याति और विदन्वन्त आँखें फाड़कर देखते हैं। अश्विन आकाशमें दूर जाते दिखाई देते हैं ।) शर्याति ! तुमने पति-पत्निकी एकताका जो ज्ञान पाया है उसीसे तो मैं सजीव हुआ हूँ फिर यह भिन्नता कैसी ? साध्वी मेरा स्थान तो सदा इस भुज युगलमें है (च्यवन हाथ बढ़ाते हैं । सुकन्या ऊपर देखती है फिर लजाकर

शर्यातिकी ओर देखती है और फिर मर्यादा छोड़कर हँसते हुये च्यवनकी भुजाओंमें आ लिपटती है। शर्याति आँसू पोंछता है।) और अश्विनो! दुखीका दुख हरनेवाले देवों मैं आपका ऋणी हूँ। अपने यज्ञोंका जो सोम मैंने सर्वशक्तिमान् वृत्रघ्नको भी नहीं देनेका साहस किया था, वह मैं आजसे तुम्हें पिलाया करूँगा और महाव्रतियों आपसे प्रार्थना है कि निर्भय और निर्लोभ भावना से दिया हुआ यह उपहार अवश्य स्वीकार कीजिएगा।

अश्विन

(आकाशमेंसे) आर्यश्रेष्ठ महर्षिवर्य! तुम्हारे यज्ञोंमें हम आवेंगे और सोमपान करेंगे। आजसे जहाँ शुद्ध सुकन्या और निर्भीक च्यवन आवाहन करेंगे वहाँ सुख और शान्ति फैलानेवाले हम अश्विन अवश्य उपस्थित रहेंगे। (अन्तर्धान होते हैं। आकाशमें भयंकर गर्जन होता है।)

च्यवन

(इन्द्रके कोपकी उपेक्षा करके) विदन्वन्त! मानव-शार्दूल! आओ इस गृहपति अग्निकी सेवा करें। बंधू! शंखनाद करके सब भृगुओंको निमंत्रित करो। आज वृत्रघ्नकी पराजय हुई है। (सब अग्निके आसपास बैठते हैं, विदन्वन्त शंख फूँकता है और चारों ओरसे भृगुलोग पर्वतपर चढ़ते-उतरते दिखाई देते हैं। वे च्यवनको देखकर चकित और हर्षित होते हैं।

सुकन्या

किन्तु महर्षि ! जिसके कारण यह सब कुछ हुआ उसे तो हम लोग भूल ही गए। [कोने में मूर्छित पड़ी हुई उस स्त्रीकी ओर इंगित करती है।] यह बेचारी दुःखके मारे भ्रष्ट हुई किन्तु यह न होती तो मुझे बुद्धि भी न आती। आर्य-श्रेष्ठ ! आप ही इसे पवित्र कर सकते हैं। (हाथ जोड़ती है)

च्यवन

सती ! जिसे तुमने सत्य समझ लिया है वह शुद्ध ही है (खड़े होते हैं और उस स्त्रीके पास जाकर उसे देखते हैं, फिर अग्निमेंसे गरम भस्म लाकर उसके शरीरमें मलते हैं।) भृग्वान् ! इस स्त्रीको सजीव कीजिए। उसका पाप और कलंक दूर कीजिए। मैं अथर्वण च्यवन आपसे प्रार्थना करता हूँ। वैश्वानर ! उसे ज्यों की त्यों कर दीजिए। (वह आलस्यसे अँगड़ाई लेकर उठ बैठती है, सब चकित होकर च्यवन और अग्निको प्रणाम करते हैं।)

विदन्वन्त

गुरुवर्य ! आइए, इसी प्रसंगपर अग्निको हवि और अश्विनोंको सोम प्रदान कर दिया जाय। इन्हींकी कृपासे आज भृगुओंकी विजय हुई है। भृगुओ ! सोम और हवि तो तैयार कर लाओ।

शर्याति

और भृगुवर्य ! आपकी टेक भी रह गई, वार्धक्य भी

जाता रहा, सुकन्या भी मंत्रद्रष्ट्री बन गई, आपको सोमपान करनेवाले देवता भी मिल गए और हमारा बल भी आज दुर्जय हो गया और इन्द्रकी पूरी पराजय भी हो गई। इसलिए अब अश्विनोंके साथ इन्द्रको भी सोमपान कराना चाहिए क्योंयि ये जैसे द्वेषी हैं वैसा हमें नहीं होना चाहिए।

च्यवन

ठीक कहते हो राजशार्दूल ! मेरी वर्षोंकी टेक आज सफल हुई। मैंने जो संकल्प किया था कि गोत्रभिद् से दबकर उसे सोम नहीं दूँगा वह आज पूरा हो गया। अब शक्ति पाकर झुकनेमें संकोच नहीं करना चाहिए। इसीमें हमारा बड़प्पन है।

[भृगु हवि और सोम लाते हैं, च्यवन लेते हैं, हवि अग्निमें डालते हैं और अश्विनोंको सोमपान कराते हैं। फिर आकाशकी ओर देखते हैं।] घृत्रहन आओ ! आपका वैरी मैं च्यवन भार्गव, विजयके उत्साहमें आपको निमंत्रित करता हूँ। पुरन्दर ! आपके क्रोधसे भी निडर रहनेवाला मैं अथवर्ण और अंगिरस आपको सोमपान कराना चाहता हूँ। वज्री ! जो सोम मैंने आपके तापसे नहीं दिया, आपके द्वेषके आगे घुटने टेक कर नहीं दिया, वह आज अपनी और अपने भृगु शार्यातोंकी विजयके समय आपको दे रहा हूँ। इन्द्र ! आप आर्योंके पालक हैं, उनकी सम्रद्धिके संरक्षक हैं। आपकी शक्ति ओर सेवा मैं भूलना नहीं चाहता। पुरन्दर ! जिस च्यवनने यज्ञमेंसे आपका बहिष्कार किया था वही आपको

बुला भी रहा है। जो च्यवन आपकी अधीनता नहीं स्वीकार करता था वही आज विजय प्राप्त करने पर भी आपको निमंत्रण दे रहा है। आओ शतमन्यु! अश्विनों ने मेरे जिन यज्ञोंको सफल कर दिया है उनमें मैं आपको भी स्थापित करूँगा। जिस शर्याति मानवको पचास संवत्सरोंसे आप सता रहे हैं उसी शर्यातिको मैं ऐन्द्र महाभिषेकसे पवित्र करूँगा।

[ऊपर देखता है, आकाशमें बिजली चमकती है। फिर आकाशसे इन्द्र उतरते हैं।]

इन्द्र

महर्षि तुम्हारा निमंत्रण मैं स्वीकार करता हूँ।

[सब साष्टांग दंडवत करते हैं। च्यवन इन्द्र को सोमपान कराते हैं।]

च्यवन

देव! आपने आज मुझे कृतार्थ कर दिया।

इन्द्र

महर्षि! जो तुमने मेरे भयसे नहीं किया, वह आज तुमने मुझे परास्त करके अपना आर्यत्व दिखलानेके लिए किया है, देवोंसे न परास्त होनेवाले आर्यश्रेष्ठ, तुम्हारे समान निर्भीक महात्माके यज्ञोंमें दीनोंके आधार अश्विनों का उच्छिष्ट सोम पीकर भी मुझे अभिमान होगा। (अन्तर्धान होते हैं।)

च्यवन

[खड़े होकर] मानवराज विदन्वन्त ! शर्याति ! आज वर्षोंकी मेरी टेक रह गई और हमारा आपसका वैर दूर हो गया। जैसे इन्द्र सप्तसिंधुमें जाकर सोमपान करते हैं वैसे ही, उससे भी अधिक पुनीत इस भूमिमें भी आकर वे सोमपान करेंगे। भृगुओं और शर्याती! (सब खड़े होते हैं) हमारे विजय-मंत्रसे ही यह प्रदेश निरन्तर गूँजता रहेगा। (च्यवन गाते हैं, सब उनके साथ गाने लगते हैं।)

सहस्र वर्चस्वी, यशस्वी, यह हवि यश करे।
सहस्र गुना यश करे ॥
यशस्वी मित्रावरुण, यशस्वी वसु अर्यमा।
यशस्वी त्वष्टा सविता ॥
यशस्वी मरुत, यशस्वी भग, ब्रह्मणस्पति।
यशस्वी सोम, यशस्वी मघवा, यशस्वी रुद्र ॥
यशस्वी द्यावा, पृथ्वी यशस्वी
अग्नि यशस्वी, अश्विन यशस्वी।
ब्राह्मण यशस्वी, भृगुजन यशस्वी।
यश सर्वसत्तम मेरा ॥

अविभक्त-आत्मा

अविभक्त-आत्मा

(एक वेदकालीन नाटक)

पात्र—

मरीचि अत्रि अंगिरा पुलह् पुलस्त्य क्रतु	—	सप्तर्षिमंडलके छः ब्रह्मर्षि।

संभूति—मरीचिकी स्त्री।

वसिष्ठ—मित्रावरुण और उर्वशीके पुत्र, मैत्रावरुण—वारुणि।

मेधातिथि—एक महर्षि।

अरुन्धती—मेधातिथिकी पुत्री—मेधातिथि।

श्वेतकर्ण—एक मुनि।

मनु वैवस्वत—सूर्यके पुत्र जो आर्योंको भारतमें लाए, यमके भाई।

यम वैवस्वत—सूर्यके पुत्र जो आर्योंको उत्तर ध्रुवसे लेकर निकले, मनुके भाई।

वरुण—व्योमके और सृष्टि-नियमरूपी ऋतके देवता।

अग्नि
विश्वेदेवा —वैदिक आर्योंके देव।
मरुत

समय—भारतमें जब आर्य आए उसके एक शताब्दि पश्चात्।

स्थान

सरस्वती और दृषद्वती नदीके बीच पंजाबका भाग।

टिप्पणी

आर्योंका मूल स्थान उत्तरीय ध्रुव प्रदेशमें था। जब वहाँ हिम पड़ने लगा तो यम वैवस्वत आर्यों को वहाँसे दक्षिणमें भारततक ले आए।

आर्यों का प्राचीन संवत्सर सप्तर्षि-संवत्सर ही था। इस संवत्सरकी स्थापना इस कल्पनापर हुई थी कि प्रति सौ वर्षोंपर सप्तर्षि एक नक्षत्र चलते हैं। मैंने भी इसी सिद्धान्तका उपयोग किया है।

वसिष्ठजी हमारी शुद्ध आर्य संस्कृतिके आदि प्रतिनिधियोंमेंसे एक हैं। यद्यपि पुराणोंमें सातों ऋषियोंकी पत्नियोंका वर्णन है किन्तु उनमें केवल अरुन्धती ही ऐसी हुई हैं जिन्हें सातों ऋषियोंके समान पदवी प्राप्त हुई और सप्तर्षिमंडलके तारोंमें भी अरुन्धतीका एक तारा विद्यमान है। हमारे यहाँ कर्मकांडमें भी सप्तर्षियोंकी सात सुपारियों के साथ अरुन्धतीकी आठवीं सुपारी भी रक्खी जाती है। विवाहके समय कन्याको अरुन्धती तारेका दर्शन कराने की प्रथा अब तक प्रचलित है और सप्तर्षियोंके साथ अरुन्धतीको देखकर महादेवजीका भी मन पार्वतीजीसे विवाह करनेको मचल उठता है।

हिन्दू विश्वासके आधार पर वसिष्ट और अरुन्धतीका स्थान मुझे अपूर्व लगा। इनके दांपत्यका आदर्श बहुत अद्वितीय जान पड़ा। यह आदर्श क्या है यह मैंने अपनी कल्पना से पूछा। मुझे जो उत्तर मिला उसीके थोड़े बहुत अंशको व्यक्त करनेका यहाँ प्रयास किया गया है।

—कन्हैयालाल मा० मुन्शी

अविभक्त-आत्मा

(वेदकालीन नाटक)

प्रथम अंक

समय—ऋग्वेद कालका प्रारम्भ ।

स्थान—सप्तसिन्धुमें दृषद्वतीके तीरपर महर्षि मेधातिथि-का आश्रम ।

[सविताकी किरणें दृषद्वतीके जलपर नाचती थीं, और प्रातःकालका मंद मादक पवन वृक्षोंके नव पल्लवोंको नचा रहा था ।

विशाल, सुन्दर और घने वृक्षोंसे तपोवन छाया हुआ था । अशांत मानवके लोभने उसके वृक्षोंकी समृद्धि नहीं लूटी थी। सुरूपताके मिथ्या विचारने उसकी टेढ़ी मेढ़ी और अस्पष्ट पगडंडियोंको सीधे मार्गका स्वरूप नहीं दिया था। वसन्त छाया हुआ था । लता-लतापर पुष्प झूल रहे थे । डाली डालीपर पक्षी किलोलें कर रहे थे, स्थान स्थानपर बाल हरिण परस्पर खेलवाड़ कर रहे थे । सारसके जोड़े नदीमें हृदयका लेन-देन कर रहे थे । प्रकृति नवोढ़ाके समान थिरक रही थी ।

वसिष्ठ मैत्रावरुण घंडैलसे नदी पार करके उसे किनारे-

की ओर खींचते हुए दिखाई देते हैं। वे हट्टे-कट्टे युवक हैं। उनके मुखपर अभी दाढ़ी उगने लगी है, और उनकी जटा उनके तेजस्वी मस्तकपर झूल रही है। उनकी आँखें गहरी हैं। उनकी सुन्दर नाककी रेखा झुकी हुई है। वे मृगचर्म पहने हुए हैं। उनके बाएँ कंधेपर द्वितीयाके चंद्रमाके समान यज्ञोपवीत और मस्तक पर भस्म शोभित है। उनके हाथमें एक बड़ासा दंड है और कंधेपर तूणीर और धनुष लटक रहा है। वसिष्ठ घंडैलको तटकी ओर खींचते हैं। इतनेमें तटसे थोड़े ऊँचेपर खड़े हुए पेड़ोंकी झुरमुटमें अरुन्धती मेधातिथि दिखाई देती है। वह भी युवती है। उसका पहनावा भी लगभग वसिष्ठके ही समान है; केवल खड़ाऊँ भर उसके पैरमें नहीं हैं। उसके हाथमें कोई शस्त्र भी नहीं है।]

[वह वसिष्ठको देखती है और हँसती है।]

अरुन्धती

(हाथसे दिखाते हुए हँसकर) मैत्रावरुण! मैं भी घंडैल खींचनेमें सहायता दूँ?

[वसिष्ठ मुँह घुमाकर अरुन्धतीको देखकर हँसते हैं। और उल्लाससे एक लंबी साँस लेते हैं।]

वसिष्ठ

आओ अरुन्धती! एकसे दो भले।

अरुन्धती

(दौड़कर आ पहुँचती है) तुम उधरसे खींचो, मैं इधरसे खींचती हूँ। (दोनों घंडैलको तीरपर ले आते हैं।)

वसिष्ठ

क्यों महातापसी ! इस समय यहाँ कैसे आ पहुँची !

अरुन्धती

(व्यंगके साथ) तपोनिधि वसिष्ठ बहुत दिनोंपर यहाँ आए हैं, उन्हींका स्वागत करने।

वसिष्ठ

मैं आऊँ भी तो कैसे ? यतियोंके साथ युद्ध करने से ही कहाँ अवकाश मिलता है ? कहो, महर्षि कहाँ हैं ?

अरुन्धती

वे क्या बैठे हुए हैं ! आज भगवान् ऋतु पधारने वाले हैं न, उन्हींकी बाट जोह रहे हैं।

वसिष्ठ

(आदरसे) भगवान ऋतु ? क्यों ?

अरुन्धती

भगवान् मरीचिसे मिलने जाते हुए यहाँ ठहरने वाले हैं। [महर्षि मेधातिथि आते हैं। वे वृद्ध और तेजस्वी पुरुष हैं। उनका वेश भी वसिष्ठके ही समान है। वे लोहेकी छुरीसे एक लकड़ी छीलकर स्रुवा बना रहे हैं।]

१—एक आर्य जाति।

वसिष्ठ

(पास जाकर दंडवत प्रणाम करते हैं) प्रणाम महर्षि। तपस्या ठीक चल रही है न?

मेधातिथि

(हाथ बढ़ाकर आशीर्वाद देते हैं।) कहो तपोनिधि! कैसे हो? आओ बैठो। अरुन्धती! वसिष्ठने तपस्याकी चरम सीमा पार कर डाली है। उन्होंने तो महर्षि-पदको भी पीछे छोड़ दिया है। (अरुन्धती हँसकर वसिष्ठकी ओर देखती है।) वसिष्ठकी और तेरी अवस्थामें तो हम लोग लकड़ियाँ चुनने जाया करते थे।

वसिष्ठ

अजी आप भी क्या कहते हैं?

मेधातिथि

सत्य कहता हूँ, और अब तो यह मेरी कन्या भी बड़ी तपस्विनी हो गई है; वारुणी! तुम अकेले ही मनमें न फूलना। (दाढ़ीपर हाथ फेरकर) मेरी यह कन्या (हंसकर) मेरी कन्या तुमसे भी टक्कर लेने वाली है।

वसिष्ठ

(प्रेमभरे स्वरसे) टक्कर क्या? इस समय तो सप्त-सिंधुमें इसकी जोड़ीका कोई है नहीं।

[अरुन्धती हँसती हुई आँखोंसे देखती है।]

मेधातिथि

(थोड़ी सूक्ष्म दृष्टिसे देखकर) कोई नहीं है ऐसा कैसे कहा जा सकता है ?

वसिष्ठ

नहीं, यह तो अद्वितीय है और रहेगी।

अरुन्धती

तपोनिधि मैत्रावरुण जो मनमें आए कहें; उन्हें क्या कोई रोक सकता है ?

मेधातिथि

(हँसकर) बात तो ठीक है । इनकी वाणी की बड़ी प्रशंसा हो रही है और इनका तप देखकर तो बड़े बड़े ब्रह्मर्षि भी चकरा जाते हैं।

वसिष्ठ

(नम्रतासे) यह तो आप लोगोंकी कृपा है मैं तो केवल आप ही लोगोंके आदेश हृदयमें उतारनेका प्रयत्न कर रहा हूँ।

मेधातिथि

(ठहाका मार कर हँसते हुए) चलो! चलो! वृद्ध अत्रि स्वयं कह रहे थे कि किसी भी मंत्र-द्रष्टाकी ऋचाएँ इनकी ऋचाओंसे टक्कर नहीं ले सकतीं।

वसिष्ठ

पर महर्षि! ये ऋचाएँ मैं कहाँ बनाता हूँ ?

मेधातिथि

तब ?

वसिष्ठ

अरुन्धती जानती हैं। (आकाशकी ओर दृष्टि करके) मेरे पिता ज्योतिष्पति-राजा वरुण ही मुझे प्रेरित करके बनवाते हैं।

मेधातिथि

(हाथसे छुरी और लकड़ी रखकर) क्या कहते हो ?

वसिष्ठ

(आँखें नीची करके) प्रातःकाल या संध्या समय जब मैं सरस्वतीके तटपर या गिरिशृंगपर बैठता हूँ उस समय वे सहस्राक्ष वरुण मुझपर प्रसन्न होते हैं जिनकी गति पक्षी भी नहीं जान सकते। मैं उनसे बातें करता हूँ। दूर रहते हुए भी वे 'असुर' मेरे पास आते हैं और मुझे प्रेरित करते हैं। उन्हींकी शक्तिसे मुझे शक्ति मिलती है और मेरी जिह्वापर वाग्देवी आ विराजती हैं। चुप रहनेकी इच्छा करते हुए भी मैं बोलने लगता हूँ और विना प्रयत्न किए ही मैं मंत्र दर्शन करने लगता हूँ। महर्षि, इसमें मुझे कुछ श्रम नहीं करना पड़ता। मैं तो केवल उनकी गोदमें सिर रखकर बैठ जाता हूँ।

मेधातिथि

(सिर हिला कर) तुम भी सचमुच बड़े प्रतापी हो। मैं तो अभी तक समझता था कि केवल मेरी पुत्री ही नदी-श्रेष्ठ देवी सरस्वतीसे संवाद करती है।

[घंटानाद होता है, शंख बजता है और लोगोंके आनेकी ध्वनि सुनाई देती है ।]

अरुन्धती

महर्षि ! जान पड़ता है भगवान् ऋतु आगए हैं । [तीनों व्यक्ति खड़े होकर आगे बढ़ते हैं ।]

मेधातिथि

(पुकारकर) वृद्धश्रवा ! शिष्यो ! भगवती ! बाहर आओ; भगवान् ऋतु आए हैं । [लगभग पचास व्यक्तियोंकी टोली आनन्दपूर्वक ऋचा गाती प्रविष्ट होती है । बहुतोंके पास भाले, बाण, धनुष, दंड आदि आयुध हैं । साथमें कितनी ही स्त्रियाँ भी हैं । पुरुष मृगचर्म पहने हुए हैं । बीचमें बाँसकी पालकीमें भगवान् ऋतु बैठे हैं, उनकी श्वेत दाढ़ी और जटासे आधा अंग ढक गया है । मेधातिथिके आश्रममेंसे भी कई शिष्य आ पहुँचते हैं । ऋचा सुनकर वसिष्ठ और अरुन्धती भी एक दूसरेकी ओर देखते हैं ।]

अरुन्धती

(वसिष्ठसे) यह तुम्हारा मंत्र है ?

वसिष्ठ

(अरुन्धतीसे) हाँ । (मेधातिथि, वसिष्ठ और अरुन्धती पालकीकी ओर बढ़ते हैं ।)

मेधातिथि

भगवान् ऋतुको प्रणाम [तीनों साष्टांग दंडवत करते

हैं। पालकीवाले पालकीको पेड़के नीचे उतारते हैं और वृद्ध ऋतु आँखें खोलकर सीधे बैठ जाते हैं।]

ऋतु

(स्नेहपूर्वक) शरदः शतं जीवेः पुत्र! कहो मेधातिथि! तपस्या तो बढ़ती जा रही है न? यह कौन? पुत्री अरुन्धती? सुना है कि तू भी बड़ी भारी तपस्विनी हो गई है।

मेधातिथि

(हँसकर) भगवान् ऋतुकी दौहित्री तपस्विनी न हो तो और कौन होगा? आप तो कुशलसे हैं न?

ऋतु

(वसिष्ठको देखकर) हाँ, यह कौन?

मेधातिथि

आप नहीं पहचानते? यह है वसिष्ठ मैत्रावरुण, यहाँ कुछ दिनोंतक मेरा शिष्य रहा है। [वसिष्ठका नाम सुनकर ऋतुके शिष्य पीछे हटकर बड़े आदरसे देखते हैं।]

ऋतु

(धीरेसे दाढ़ीपर हाथ फेरकर) वसिष्ठ! (ध्यानसे उनकी ओर देखकर) तुम्हारा नाम तो बहुत सुना था, पर तुम्हें देखा आज ही है। (अधिक ध्यानसे देखकर) पर तुम तो बालकसे लगते हो। तुम इसी अवस्थामें मंत्रद्रष्टा और महर्षि बन गए? (अपने शिष्योंसे) शिष्यो! देखो यही है मैत्रावरुण वसिष्ठ, जिनका मंत्र अभी तुम लोग पढ़ रहे

थे। इनका चरण-वन्दन करो। [ऋतुके शिष्य वसिष्ठके चरण छूते हैं। इतनेमें मेधातिथिके शिष्य अर्घ्यकी सामग्री लाते हैं।]

मेधातिथि

भगवन्! मेरा अर्घ्य स्वीकार कीजिए। (अर्घ्य देते हैं।)

अरुन्धती

और मेरा भी (अर्घ्य देती है।)

वसिष्ठ

और मेरा भी (अर्घ्य देते हैं।)

मेधातिथि

चलिए मेरा आश्रम पवित्र कीजिए। अभी शीघ्र ही भोजन भी तैयार हुआ जाता है।

ऋतु

नहीं मेधातिथि! मैं ठहर नहीं सकता। मुझे भगवान् मरीचिसे मिलना है। ये मेरे शिष्य थोड़ा विश्राम कर लें तो बस मैं चल दूँ। (एक शिष्य पानी देता है, वे पीते हैं। हाथसे मुँह पोंछते हुए) हमें यज्ञ करना है, उसीकी व्यवस्था करने जा रहा हूँ।

मेधातिथि

यज्ञ?

ऋतु

(उदास होकर) हाँ। सब आर्य ढूँढ़ते ढूँढ़ते थक गए हैं किन्तु अभी सप्तर्षियोंमेंके सातवें ऋषि प्रकट नहीं हो

पाए। और कुछ समझमें ही नहीं आता कि हम लोगोंको शान्तिसे कब बैठनेको मिलेगा।

मेधातिथि

आप सातवें ब्रह्मर्षि प्रकट करनेके लिये यज्ञ करना चाहते हैं? पहले भी तो अनेक बार यज्ञ करनेपर वे नहीं प्रकट हुए।

क्रतु

अनेक क्या? मेधातिथि! पिछले सत्तानबे वर्षोंसे आर्य लोग सातवें ब्रह्मर्षिकी बाट जोह रहे हैं। पर वरुणको दिया हुआ मनु वैवस्वतका वचन अभी तक सफल नहीं हुआ।

वसिष्ठ

और तभीसे सप्तर्षिगण नक्षत्र भी नहीं बदल रहे हैं।

क्रतु

आर्योंका भविष्य मुझे अन्धकारमय लगता है। यदि दूसरा सप्तर्षि-मंडल नहीं बनेगा और सप्तर्षि नक्षत्र नहीं बदलेंगे तो हम लोग भूतलपर भटकते भटकते उकता जायँगे।

मेधातिथि

ऐसा क्यों कहते हैं भगवन्!

क्रतु

तुम बच्चोंको सब कुछ खेलवाड़ लगता है। (थोड़ा खाँसकर) पर हमने तो नरशार्दूल मनु वैवस्वतकी वाणी स्वयं उनके मुखसे सुनी है। अरुन्धती! तूने यह बात सुनी है?

अरुन्धती

नहीं मातामह! पूरी नहीं सुनी। कहिये क्या थी?

ऋतु

(आँखें मूँदकर) लगभग सौ वर्ष हुए, पर वह दृश्य मेरे मनमें ज्योंका त्यों खिंचा हुआ है। वर्षों बीत गए किन्तु उनकी स्मृति अभी तक बनी हुई है। तुम्हें नहीं स्मरण होगा, हमारे पूर्वज पहले मेरुके आस-पास की स्वर्ण-भूमिमें बसते थे। उस समय आर्योंके सुखका कोई पार न था। फिर वृत्र भी क्रुद्ध हो गया, राजा वरुण भी रुष्ट हो गए और हमें अपनी मातृ-भूमि छोड़कर निकल आना पड़ा।

(श्वास लेकर) सहस्रों आर्य हिममें अकड़कर ठंडे हो गए। सहस्रों स्त्री-पुरुष सागर पार करते समय डूब मरे। प्रतापी आर्य नए संसारमें आकर भटकने लगे। महा तेजस्वी विश्वपति यम वैवस्वत भी हमारा साथ छोड़कर पितृलोक चले गए। (कुछ ठहरकर) बड़े ही कष्टसे नरशार्दूल मनु वैवस्वतने पाँच आर्य जातियोंकी रक्षा की; किन्तु हमारे दुःखोंका कोई पार नहीं था। जिन वरुण देवताने सविताको मार्ग दिखलाया था वही हम लोगोंसे विमुख हो बैठे। हमारी मूल मातृ-भूमिमें सर्वव्यापी और उग्र वरुणकी सेवामें प्रति-रात्रि सप्तर्षिगण सिरपर चक्कर लगाते थे। (निःश्वास छोड़कर) दैवके रोषसे वह उच्च-

स्थायी ऋक्ष[1] अहिके[2] अन्धकार-भवनमें अदृश्य होने लगा।
(आवेशसे) बच्चों! सप्तर्षि मंडल हमारे आर्य जीवन-का आधार है। वरुणकी कृपासे ही वे प्रकट होते हैं। उन्हींके तपोबलसे त्रिभुवन खड़ा हुआ है। जब द्यावा-पृथ्वीके आधार सप्तर्षि अस्त होने लगे तभी आर्योंका साहस भी टूटने लगा। (श्वास लेकर) तभीसे सब इधर उधर भटकने लगे। जैसे चाहा वैसे रहने लगे और चाहे जिस देवताकी उपासना करने लगे। अन्तमें यहाँ तक हुआ कि हम लोग आपसमें ही मरने-कटने लगे। नरपुंगव वैवस्वत भी चिंतामें घुलने लगे, (मुँह पोंछकर) इस दुःखका दलन करनेके लिये मनु वैव-स्वतने यज्ञकी शरण ली। भगवान् मरीचि, अत्रि और अङ्गिराने देवोंका आवाहन करके इन्हें स्थापित किया। अन्तमें देवोंके देव और आदित्योंमें श्रेष्ठ वरुण प्रसन्न हुए और वैव-स्वतको वचन दिया। (ठहरकर थोड़ा श्वास लेकर) वरुणने कहा कि जब सब सप्तर्षि पृथ्वी पर प्रकट होंगे, और महासप्तर्षि सत्र आरंभ करेंगे तब देवता प्रसन्न होंगे, आर्योंका भटकना बंद होगा और मूल आर्यावर्तसे भी अच्छी भूमिमें पहुँच कर वे स्थिर हो जायँगे। उसी समय सप्तर्षि-मंडल भी नक्षत्र बदलेगा। (निःश्वास छोड़कर) सप्तर्षियोंको प्रकट करनेके

१—सप्तर्षि नक्षत्र-मंडल।

२—अन्धकारमें रहने वाला सर्प, जिसके लिए यह माना जाता है कि वह प्रति रात्रि सूर्यको निगल जाया करता है।

लिये वैवस्वतने अनेक यज्ञ किए। वरुणने कहा था कि यज्ञकी ज्वालामें जिस जिसका मुख दिखाई देगा वही महर्षिके सप्तर्षि-मंडलका एक एक ऋषि होगा। उस वचनके आधार-पर मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, पुलस्त्य और मैं—हम छः ब्रह्मर्षि प्रकट हुए, किन्तु सातवें ऋषि प्रकट नहीं हो रहे हैं और हमारे दुःख भी दूर नहीं हो रहे हैं.................
(दाढ़ीपर हाथ फेरकर, खेदसे) सत्तानबे वर्ष बीत चुके। हम सब पितृलोककी ओर पैर बढ़ाए हुए हैं, यम वैवस्वतके सदनमें जानेके लिए तैयार बैठे हैं, किन्तु सप्तर्षि-सत्रका आरंभ करके आर्योंका उत्कर्ष साधनेकी इच्छासे ही केवल तपोबलके भरोसे हम अपनी देह टिकाए हुए हैं। अब हम लोग केवल सातवें ऋषिके प्रकट होनेकी प्रतीक्षामें जी रहे हैं।

(आतुरतासे) और न प्रकट हों तो ? [सब चौंककर उसकी ओर देखते हैं।]

ऋतु

(काँपकर) शान्तं पापम् ! जानती हो बेटी ! सातवें ऋषि न प्रकट हों, उनका सत्र न हो और ऋक्ष भी नक्षत्र न बदलें तो आर्य भटकते रह जायँगे, उनके संसारमें आग लग जायगी, उनका प्रताप नष्ट हो जायगा और उनके कर्म लुप्त हो जायँगे। (आँखें खोलकर दृढ़तासे) अरुन्धती! तपसे तीनों भुवनोंको धारण करनेवाले सब सप्तर्षि प्रकट

हों, तभी हमारा कल्याण हो सकता है। (आँखें मूँदकर सिर नीचा करता है।)

वसिष्ठ

(धीरेसे) भगवन्! सातवें ऋषिके प्रकट न होनेका कारण क्या है?

ऋतु

(अधीर होकर) कारण? तुम्हारी निर्जीवता। ऋषियोंमें जबतक पहलेके समान तपोबल नहीं आवेगा तबतक सप्तर्षि-मंडल पूरा नहीं होगा। (आकाशकी ओर देखकर) भगवन्! कब आयगा वह दिन?

मेधातिथि

आयगा भगवन्! नहीं तो क्या मरीचि और अंगिरा डेढ़ सौ वर्षतक जीते रहेंगे?

ऋतु

(निराशासे) तू तो बड़ा श्रद्धालु है। जब जब मैं यह बात स्मरण करने लगता हूँ तब तब मेरा जी जल उठता है। तुम सब आपसमें लड़ते हो, आश्रम स्थापित करते हो; किन्तु तुम्हारे पूर्वज तो वरुणके व्रतोंका पालन करते रहे और इसीसे वे विश्वनियमोंके साक्षात् दर्शन कर पाए। उन्हींके तपोबलसे तुम लोग टिके हो। भृगु हव्यवाहनको पृथ्वीपर लाए, कश्यपने पितृभक्ति प्रकट की, मरीचिने सत्य स्थापित किया, अग्निने तपकी सिद्धि प्राप्त

की और अंगिराने वाग्देवीको प्रसन्न करके मन्त्र-दर्शन किए। ये सब शाश्वत हैं। उन्हींके बलसे बचे जा रहे हो। पर यदि सब सप्तर्षि प्रकट न होंगे तो तप नष्ट हो जायगा, और क्रोधी घृत्रकी निश्चय विजय होगी। (सिर झुकाकर) और तुम्हारा नाम तक मिट जायगा।

वसिष्ठ

(हँसकर) भगवन्! आर्योंका तपोबल अभी समाप्त नहीं हुआ है; आप घबरा क्यों रहे हैं?

ऋतु

(आँखें निकालकर) मैत्रावरुण! तू मुझसे तपोबलकी बात करता है? (तिरस्कारसे) तेरे समान लोग जबसे तप सिखाने लगे हैं तभीसे तो यह निर्जीवता प्रारंभ हुई है।

वसिष्ठ

(नम्रतासे) भगवन्, मुझे जो आता है वही तो मैं सिखाता हूँ।

ऋतु

(अधीर होकर) तू फिरसे तप करना सीख। जिस तपसे आर्योंका जीवन शांत व स्थिर न हो, उसे कैसे तप कह सकते हैं?

वसिष्ठ

(गर्वसे) मैंने जो तप सिखाया है वह शांति और स्थिरता दोनों देता है; शक्तिकी, विजयकी, तथा उल्लासकी

शांति और स्थिरता ; और यह शक्ति वरुणके शाश्वत धर्मके पालनसे ही प्राप्त हो सकती है।

ऋतु

(चिल्लाकर) बालक ! बालक ! चपलता न कर। वरुणके व्रत परखना कोई हँसी खेल नहीं है। सच्चा तप समझे बिना वह नहीं परखा जा सकता ?

वसिष्ठ

(हाथ जोड़कर) मैं समझने का प्रयत्न करता हूँ।

ऋतु

विश्वेदेवा तुम्हारा कल्याण करें। मेधातिथि ! तुम्हें और तुम्हारे कुलको मेरा आशीर्वाद। (अपने शिष्य से) गौतम ! अब चलो, बहुत धूप चढ़ आई है।

मेधातिथि

(खड़े होकर) भगवन्, लौटते समय यहाँ पधारने और मेरा अतिथि-यज्ञ सम्पूर्ण करनेकी कृपा कीजिएगा।

[सब उठते हैं। ऋतुके शिष्य उनकी पालकी उठाते हैं।]

ऋतु

देखूँगा, हो सका तो आऊँगा।

[शिष्य पालकी उठाकर जाते हैं। मेधातिथिके शिष्य इधर उधर चले जाते हैं।]

मेधातिथि

क्यों मैत्रावरण ! तुम तो आओगे न ?

वसिष्ठ

नहीं महर्षिवर्य ! मैं तो केवल मेधातिथिका कुशल मंगल लेने आया था ! इसलिये मैं तो थोड़ी ही देरमें चला जाऊँगा।

[अरुन्धती कुछ लजाकर हँसती है।]

मेधातिथि

(हँसकर) अच्छा तो मैं चलता हूँ। वारुणि ! मैं आशीर्वाद देता हूँ। कभी कभी आते रहा करो।

वसिष्ठ

(हँसकर) अवश्य।

[मेधातिथि और उनके शिष्य चले जाते हैं।]

द्वितीय अंक

[समय और स्थान वही। अरुन्धती और वसिष्ठ आते हैं। अरुन्धती आकर एक पत्थरपर बैठ जाती है और वसिष्ठ सामने धरतीके बाहर निकली हुई पेड़की जड़पर बैठते हैं।]

अरुन्धती

(हँसकर वसिष्ठकी ओर देखती है।) कहो कैसे हो? तपमें वृद्धि हो रही है न!

वसिष्ठ

हाँ, किन्तु भगवान् क्रतुको मेरा तप कुछ जँचा नहीं। (हँसकर) तुम्हें तो जँचता है न!

अरुन्धती

मैत्रावरुण! तुम्हारे समान महर्षिके विषयमें भला मैं क्या सम्मति दे सकती हूँ।

वसिष्ठ

(गम्भीर होकर) क्यों अरुन्धती! तुम्हारे अतिरिक्त और सम्मति दे ही कौन सकता है? और तुम्हें छोड़कर और किसीकी सम्मतिकी मैं चिन्ता भी नहीं करता।

अरुन्धती

यह मैं जानती हूँ वसिष्ठ!

वसिष्ठ

(खिन्न होकर) और फिर भी तुम्हें मेरी चिन्ता नहीं है !

अरुन्धती

(हँसकर) ऐसा कहोगे ! तुम्हें देखकर तो मैं खिल उठती हूँ; तुम्हारी कीर्ति सुनकर मुझे सन्तोष मिलता है ।

वसिष्ठ

उससे क्या ? अरुन्धती ! मुझ कुलपतिकी पत्नीकी बाट जोहते जोहते मेरे शिष्य अधीर हो गए हैं और मेरी गौएँ दुबली हो गई हैं ।

अरुन्धती

(सिर धुनकर) यह पद मैं कैसे ले सकती हूँ वसिष्ठ !

वसिष्ठ

(अपने हाथपर दूसरा हाथ रखकर अरुन्धतीको एकटक देखते हैं ।) क्यों नहीं ले सकती हो अरुन्धती ! तुम और मैं क्या दो हैं ? सरस्वतीके तीरपर भगवान् पुलस्त्यके आश्रममें हम दोनों एक साथ खेले-कूदे और खिलखिलाए हैं; एक साथ हम दोनों कुशा और समिधा लाए हैं; हाथमें हाथ डालकर हम दोनों दौड़े हैं और पैरसे पैर मिलाकर गिरे हैं। आज न तो मुझे ही तुमसे अधिक कोई स्त्री प्रिय है न तुम्हारी दृष्टिमें ही मुझसे बढ़कर कोई पुरुष है । फिर अरुन्धती ! तुम मेरा आश्रम क्यों नहीं पवित्र करती हो ?

अरुन्धती

किन्तु वसिष्ठ! पाणिग्रहणसे कौनसी विशेषता बढ़ जायगी? तुम भी तपोधन हो और मैं भी तपस्विनी हूँ। हम लोगोंको देहके धर्मकी क्या आवश्यकता है! तुम्हीं बताओ क्या गृहस्थ-जीवन हमें शोभा दे सकता है!

वसिष्ठ

(ओठ दबाकर) क्यों नहीं? सप्तसिन्धु भरमें तुम्हारे जोड़का कोई नहीं है। इधर आर्यों में मेरा भी कोई साधारण मान नहीं है। तुम्हारे नेत्र मुझे देखकर नाच उठते हैं; और मेरा हृदय तुम्हें देखकर पागल हो जाता है। तुम यदि अपने पागलपनके विचार छोड़ दो तो आज ही हम तुम एकरस हो जायँ। (अरुन्धती सिर हिलाती है) फिर विचार कर लो अरुन्धती! इस प्रकार अलग अलग जीवन कैसे बिताया जा सकता है! सहस्रों नारियोंमें ऐसी नारी नहीं होती और सहस्रों पुरुषोंमें ऐसा पुरुष नहीं होता; यदि हों तो दोनों मिलते नहीं; यदि मिलें तो दोनोंके हृदय एक दूसरेको देखकर प्रसन्न नहीं होते; और यदि प्रसन्न होते हैं तो बाधाएँ उन्हें अलग रखती हैं। जो बात युगोंमें नहीं हो सकती वह आज हो गई है। समान अवस्था वाले स्त्री-पुरुष एक होनेको व्याकुल हैं और हो सकते हैं, किन्तु केवल तुम्हारा हठ बीचमें मार्ग रोके खड़ा हुआ है।

अरुन्धती

बहुत कह चुके वसिष्ठ ! तुम्हारी जिह्वापर तो सरस्वती विराजमान है ! पर मैं फिसलनेवाली नहीं। इतने वर्षोंका किया कराया तप, मैं धूलमें नहीं मिलाना चाहती।

वसिष्ठ

(घबराकर) यह क्या कहती हो अरुन्धती ! देखो जो सुख हम लोगोंको सहवासमें मिलेगा वह इस प्रकार अलग-अलग रहने से कभी नहीं मिल सकता।

अरुन्धती

(दुःखपूर्वक) मैं जानती हूँ वसिष्ठ ! किन्तु मैं अन्य नारियोंके समान नहीं हूँ। हाथमें आया हुआ स्वर्ण भी मुझसे नहीं सँभाला जायगा। मैं पागल हूँ।

वसिष्ठ

(अपने हाथपर हाथ मार कर) पर कुछ कारण तो होना चाहिए ?

अरुन्धती

(खिन्नवदन होकर) कारण बताऊँ? पहला तो यह कि हमारी तपस्या भंग हो जायगी।

वसिष्ठ

(चकित होकर) कैसे ?

अरुन्धती

तपोनिधि ! क्या दंपतिविलास हमें शोभा देगा ? क्या

हमारे लिए इस देहका, संसारका सुख भोगना उचित होगा ?

वसिष्ठ

(सिर उठाकर) क्यों नहीं ! क्या हम मनुष्य नहीं हैं ! यदि वरुणके व्रतका पालन केवल देहको जलानेसे ही होता हो तो परमात्माने देह दी किस लिये !

अरुन्धती

(उकताकर) यह क्या कहते हो वारुणि ! क्या क्षुद्र वासनाके भोग बननेसे कहीं व्रत पाले जा सकते हैं ?

वसिष्ठ

(आवेशसे) इसमें क्षुद्र वासनाकी क्या बात है ! हाँ यदि हम एक दूसरेके लिये अयोग्य हों, एक दूसरेसे स्नेह न करते हों, या कुलधर्म और जातिधर्म बाधा देता हो, तब तो मेरी इच्छा क्षुद्र मानी जा सकती है ; किन्तु यदि हमारे समान उत्कृष्ट मानव ही संसारका भार वहन न करें तो भावी आर्योंकी क्या गति होगी ?

अरुन्धती

(खेदपूर्वक) वसिष्ठ ! तुम तपोनिधि होकर भी इतना नहीं समझते कि तपस्या संयम में है या तृप्ति में । तुम आज अत्यन्त साधारण व्यक्तिके समान बोल रहे हो ।

वसिष्ठ

(दृढ़तासे) नहीं, मैं बिना विचारे नहीं बोल रहा हूँ । यदि केवल विलासके लोभसे, केवल रूपके लोभसे, केवल

तुम्हारे सहवासके लोभ से मैं यह याचना करता होता तो मैं संयमहीन कहलाता, और तपसे भ्रष्ट समझा जाता। किन्तु मुझे तुम्हारे रूप या शरीरका मोह नहीं है। यदि तुम रूप खो दोगी तो मैं तुम्हारी और भी अधिक पूजा करूँगा। तुम पंगु हो जाओगी तो मैं तुम्हें कंधेपर बैठाकर चारों ओर घूमूँगा और तुम्हारे अवसान पर तुम्हारी भस्म अपनी देहमें रमाना अपना शृंगार समझूँगा। मुझे और कुछ नहीं चाहिए—मैं केवल तुम्हें चाहता हूँ।

अरुन्धती

(हँसकर) वारुणि! सप्तसिंधुमें न जाने कितनी आर्याएँ वसिष्ठकी पत्नी बननेके लिये लालायित हैं।

वसिष्ठ

(झल्लाकर) उन्हें लेकर मैं क्या करूँगा! मेरी अपूर्ण मानवताको पूर्ण करनेके लिये दूसरी कोई स्त्री ही उत्पन्न नहीं हुई है। मेधातिथिके अतिरिक्त कोई भी नारी मेरा आधा अंग पूरा नहीं कर सकती।

अरुन्धती

(निःश्वास छोड़कर) तुम अपनी बातोंसे मेरा मन विचलित करना चाहते हो किन्तु मैं विचलित होने वाली नहीं हूँ।

वसिष्ठ

अरुन्धती! तुम समझती हो कि तुम दृढ़ हो! किन्तु

यथार्थमें वर्षोंसे तुम भलीभाँति जानती हो कि हम दोनों एक ही अंगके आधे-आधे खंड हैं। फिर भी न जाने क्यों तुम्हारे मस्तिष्क में मिथ्या भ्रम आकर बैठ गया है।

अरुन्धती

(सिर हिलाकर) नहीं, मेरे मस्तिष्कमें सब स्पष्ट दिखाई दे रहा है। देहधर्मके त्यागसे ही तपोबलकी वृद्धि होती है, और तपकी ही परम सिद्धिके लिये मैंने अपना जीवन अर्पण कर दिया है।

वसिष्ठ

और मेरे जीवनका भी तो कोई दूसरा ध्येय नहीं है। किन्तु तुम अभीतक यह नहीं समझ सकी हो कि तप है क्या वस्तु! (तिरस्कारसे) जब भगवान् ऋतु ही नहीं समझ सके तो तुम्हारा क्या दोष! अरुन्धती! देहके व्रत चरणके हैं। उसका तिरस्कार करनेसे तपकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्या इसीको तप कहते हैं कि हम अपनेको अकेले रखकर निर्बल बनावें, अपने स्वभावकी समृद्धि लूट लें और अपना विकास रोक दें! क्या इसीका नाम तप है! क्या अपने उछलते हुए हृदय के भावोंको निर्दयताके साथ कुचल डालनेको ही तप कहते हैं! (व्याकुलतासे) अरुन्धती! जिस स्त्रीको देवोंने अर्धाङ्गिनी बननेके लिये और मेरी संतानकी माता बननेके लिये निर्माण किया है उसे दूर रखनेमें क्या तप समाया हुआ

है ! यदि सबल और संस्कृत आर्योंकी उत्पत्ति रोकनेमें ही तपस्या भरी हो तो फिर उस तपका प्रयोजन ही क्या है ? (तिरस्कारसे) हम लोगोंमें इसी प्रकारका तप बढ़ जानेसे ही तो सातवें ब्रह्मर्षि प्रकट नहीं हो रहे हैं।

अरुन्धती

(कानपर हाथ रखकर) एं ! यह तुम क्या कह रहे हो। जो कार्य मनुष्यको स्वच्छन्द और साधारण बना दे उसे तप कैसे कह सकते हैं।

वसिष्ठ

मेरा तप स्वच्छन्द है ही नहीं। मैंने कभी कठिन संयम और निश्चल सरलताका त्याग नहीं किया। चंचल-वृत्तिके अधीन होकर मैंने कभी मानवताको हाथसे नहीं जाने दिया। प्रत्येक बातमें मैंने अपने पिता वरुणकी गोदमें बैठकर उन्हींकी आज्ञाके अनुसार अपने जीवनकी नाव खेई है और निरन्तर तपश्चर्यासे मुझे जो शक्ति मिली है वह पुकार पुकार कर कह रही है कि मैं अपूर्ण हूँ, तुम मेरी अर्धाङ्गिनी हो और हम दोनोंकी एकतामें ही जीवनकी सरलता समाई हुई है।

अरुन्धती

वसिष्ठ ! वासनाहीन और संयमपूर्ण ब्रह्मचर्यमें जो तप साधा जाता है वह क्या कभी गृहस्थ-जीवनमें संभव हो

सकता है। तपकी सिद्धि तो एकांत और स्वस्थ मनसे ही हो सकती है। तुम ठीक-ठीक समझ नहीं पा रहे हो।

वसिष्ठ

मैं ही ठीक समझ रहा हूँ। यदि अकेलेपनमें ही सिद्धि होती तो दो जातियोंका निर्माण करनेकी आवश्यकता ही क्या थी? अरुन्धती! अकेले स्त्री और अकेले पुरुष सदा अधूरे ही रहते हैं—समयकी धारामें वे एक दूसरेका अर्द्धाङ्ग खोजते हुए बहे चले जाते हैं और बहुत बार यह खोज निष्फल भी होती है। किन्तु कभी-कभी एक दूसरेके लिये निर्मित किए हुए अर्द्धाङ्ग इकट्ठे हो जाते हैं—अङ्गपूर्ण हो जाता है और विभक्त आत्मा अविभक्त होकर प्रकट हो जाती है, उसी समय तपश्चर्या भी संपूर्ण होती है।

अरुन्धती

(सिर हिलाकर) कभी सुना है कि दो जनोंने मिलकर कभी तपस्या की हो!

वसिष्ठ

(चमकती हुई आँखोंसे) इसीलिए भगवान् क्रतु आर्योंके विनाशके स्वप्न देख रहे हैं। हमने भी तो इतनी तपश्चर्या की है किन्तु हमारे संयुक्त बलमें एक आत्मा तकको सिद्ध करनेकी शक्ति नहीं है।

अरुन्धती

यह तुम्हारी भूल है मैत्रावरुण! मेरा विवाह करनेका

अर्थ यह होगा कि मेरा अपनापन जाता रहे, मैं तुममें लुप्त हो जाऊँ। भगवती संभूति और भगवती अनसूयाके समान तुम्हारा आश्रम सजानेमें, तुम्हारी प्रजाके पालनमें और तुम्हारी सेवा करनेमें ही मेरी सारी तपश्चर्या समाप्त हो जाय।

वसिष्ठ

(कड़ाईसे) आश्रम सजानेसे, प्रजाका पालन करनेसे या पतिके चरणोंकी सेवा करनेसे क्या कभी किसीके तपका विकास रुका है ? संरक्षणमें जो महत्ता होती है वह सर्जनमें नहीं होती।

अरुन्धती

(झल्लाकर) क्षमा करना। तुम चाहे मुझे स्वार्थी कहो, महत्वाकांक्षी कहो, किन्तु विवाह करनेसे मेरे तपकी सिद्धि नहीं हो सकती।

वसिष्ठ

किन्तु मैं तुम्हारी महत्वाकांक्षा तो रोकता नहीं। मैं तो उसे बढ़ाना चाहता हूँ। अकेले अकेले तो सभी तप करते हैं, किन्तु वह हमीं दोनों हैं जो दो व्यक्ति होकर भी एक तप धारण कर सकते हैं।

अरुन्धती

(म्लान वदनसे हँसकर) किन्तु मैं जिस सिद्धिके लिये प्रयत्न कर रही हूँ वह दोनोंके एक होनेसे नहीं प्राप्त हो सकती।

वसिष्ठ

ऐसी कौनसी सिद्धि है वह ?

अरुन्धती

बता ही दूँ ? (ठहरकर) तुम्हें दुःख तो नहीं होगा।

वसिष्ठ

तुम्हारी दुःखदायक बात भी कानको अच्छी ही लगेगी।

अरुन्धती

(धीरेसे) भगवान् ऋतुने जो कहा था वह सुना ? सप्तर्षिमंडलमें मुझे सातवें ऋषिका पद लेना है।

वसिष्ठ

(चौंककर) ऐं ?

अरुन्धती

हाँ वसिष्ठ ! मैं मंत्रदर्शन करती हूँ। मैंने तपश्चर्या ग्रहण की है। मेरे हृदयमें श्रद्धा प्रकट हुई है। ब्रह्मर्षियोंके लिये भी दुःसाध्य पदको प्राप्त करनेके लिये मैं उत्कंठित हूँ।

वसिष्ठ

(निःश्वास छोड़कर) तुम कह क्या रही हो !

अरुन्धती

(वसिष्ठके पैर छूकर) मैं इसी ध्येयके लिये जी रही हूं वारुणि ! क्यों ! इस प्रकार निःश्वास क्यों छोड़ रहे हो ! तुम्हारा भी तो यही ध्येय है न !

वसिष्ठ

(फिर निःश्वास छोड़कर) मैं क्या कहूँ अरुन्धती ? मैं आज आया तो यह सोचकर था कि यदि तुम मुझसे विवाह करना स्वीकार कर लो तो हम दोनोंके तपोबलसे वह पद मुझे प्राप्त हो जाय, पर अब ········ (सिर झुका लेता है ।)

अरुन्धती

अब क्या !

वसिष्ठ

अब क्या ! मेरी सब आशा धूलमें मिल गई । एक पद दो व्यक्ति कैसे ले सकते हैं ! और यदि एकको प्राप्त हो जाय तो दूसरेको हीनताका अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा ।

अरुन्धती

किन्तु इस पदके लिये जो कुछ भी किया जाय वह थोड़ा ही है ।

वसिष्ठ

(सहसा खड़े होकर) एक मार्ग है अरुन्धती ! सप्तर्षिपदकी अपेक्षा मुझे तुम्हारा सहवास अधिक प्रिय है । हम दोनों इस पदका लोभ छोड़कर एक क्यों न हो जायँ ?

अरुन्धती

(खड़ी होकर ,देखती हैं । धीरेसे) अर्थात् मैं स्वयं

भी तपोभ्रष्ट हो जाऊँ और तुम्हें भी तपोभ्रष्ट कर दूँ ? नहीं, यह नहीं होगा। इससे तो यही अच्छा है कि जो होना है वही हो।

वसिष्ठ

देखो अरुन्धती ! मेरा और तुम्हारा दोनोंका हृदय व्याकुल है। आर्योंके प्रतापी संस्कार हमारी नसोंमें भरे हुए हैं। प्रतापी वरुण और देवी सरस्वती दोनों हम लोगों-पर प्रसन्न हैं। छः ब्रह्मर्षि मिलकर जो नहीं कर सके वह हम करेंगे। हम आर्योंको विजय-पथपर अग्रसर करेंगे।

अरुन्धती

वसिष्ठ ! सप्तर्षिपदका तिरस्कार न करो। यह पद हम-मेंसे किसी एक को भी प्राप्त हो जाने दो। फिर उचित होगा तो हम दोनों विवाह कर लेंगे।

वसिष्ठ

(सिर हिलाकर) यह कैसे होगा ? यदि हम दोनों-में से एकको यह पद मिलेगा तो दोनोंमें एक आत्मा रह ही नहीं सकता। फिर वह विवाह ही किस कामका होगा।

अरुन्धती

किन्तु इस पदकी इच्छा रखते हुए भी तुम मुझसे विवाह करनेके लिए क्यों कह रहे थे ?

वसिष्ठ

उस समय मैं यह नहीं जानता था कि इस पदके

लिये हम दोनों प्रयत्नशील हैं। अब वह भी नहीं हो सकता—और (दृढ़तासे) अब—

अरुन्धती

क्या ?

वसिष्ठ

जिस पदकी तुम्हें लालसा है उसके लिये मैं अब प्रयत्न भी नहीं करूँगा !

अरुन्धती

नहीं नहीं, ऐसा क्यों सोचते हो ?

वसिष्ठ

(निःश्वास छोड़कर) नहीं, मैं अब जाता हूँ।

अरुन्धती

इतनी शीघ्रता क्यों ? संध्याको जाना।

वसिष्ठ

(खिन्नतासे) नहीं, मेरे तपोबलकी सच्ची कसौटी अब आई है। अरुन्धती ! भगवान करे तुम्हारी तपस्या सिद्ध हो।

अरुन्धती

वारुणि ! क्या तुम्हें इसका बहुत दुःख है ?

वसिष्ठ

(आँसुओंसे भरी आँखोंसे देखकर) मुझे अपने लिये दुःख नहीं हुआ।

अरुन्धती

तब ?

वसिष्ठ

(दूर देखकर) मुझे उन प्रतापी बाल वसिष्ठ औ मोहिनी बाल अरुन्धतीकी चिल्लाहट सुनाई दे रही है उन्हें अवतार लेनेके पूर्व कितनी प्रतीक्षा करनी होगी (दृष्टि घुमाकर दौड़ जाता है ।)

अरुन्धती

(चुपचाप देखती है और आँसू पोंछती है ।) दे सरस्वती ! आर्यों में अद्वितीय मैत्रावरुणकी मैंने हत्या कर डाल है (पुनः) किन्तु मेरा ध्येय-आर्योंका उत्कर्ष मुझसे कैसे भुलाय जा सकता है ? हे देवी ! हे मघवन् ! हे हव्यवाहन !

[उसका स्वर भर्रा जाता है । वह हाथसे मुँह ढक लेती है । परदा गिरता है ।]

विष्कंभक

[समय–दूसरे दिनकी संध्या। सरस्वतीके जलमें खड़े-खड़े वसिष्ठ अञ्जलि देते हैं।

वसिष्ठ

(आकाशकी ओर देखकर) असुर वरुण! ज्योतिष्पति पिता! तुम्हारा पुत्र मैं इस पतित-पावनी सरस्वतीके शुद्ध जलमें खड़े-खड़े तुम्हें निमंत्रित करता हूँ! हे धृतव्रत! मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ। जैसे बछड़ा धेनुके लिये छटपटाता है उसी प्रकार मेरा हृदय भी आपके लिये छटपटा रहा है। हे धृतव्रत! मेरी बुद्धि प्रेरित करो, मेरे बाहुओंमें बल दो, मुझे अचल संकल्प-शक्ति दो। राजा वरुण! उत्कृष्ट सोम पिलाकर मैंने आपको प्रसन्न किया है। मैंने सदा ऋत और सत्यका आचरण किया है। मैंने सदैव आपके व्रत पाले हैं। स्तोत्र, और नमन, तथा यज्ञ और हविसे मैंने आपको प्रसन्न किया है। पिता! परम तप मैंने साधा है बचपनसे ही। और बिना आपकी प्रेरणाके मैंने एक भी शब्दका उच्चारण नहीं किया है। हे द्यावापृथिवीके स्वामी! आप पक्षियोंका पथ जानते हैं, आप समुद्रकी नावोंको पहचानते हैं। आदित्यों में आप ही एक ऐसे हैं जो वायुके विस्तृत और ऊँचे मार्गको समझते हैं। बिना पैरोंवाले सूर्यको आपने चलनेकी शक्ति दी है। हे सर्वशक्तिमान्! क्या इस समय आप मुझसे विमुख हो जायँगे? (विनयपूर्वक) हे सहस्राक्ष! आपने ही मेरे हृदय

में बैठकर यह कहा है कि मैं और अरुन्धती एक हैं। देव ! मैं उसके बिना जी नहीं सकता—उसके बिना जप-तप नहीं साध सकता। उसके बिना आपका गुणगान नहीं कर सकता। पिता ! आपने ही सिखाया है कि मैं और वह भिन्न नहीं हैं। आपने ही एक आत्माके दो अंगोंको कालकी सरितामें बहाया है। अपने व्रतके पालनके लिये ही आप इन अंगोंको एक साथ लाए। अब आप ही हमारे एक आत्माके दर्शन कराइए ! घिपति ! इस दर्शनके बिना मैं दुखी हूँ। पिता ! मैं, मेरी शक्ति, मेरा तप ये मेरे नहीं हैं, ये सब उसी आत्माके हैं। वह आत्मा इस समय दो शरीरोंमें है। वह ज्योति दोको जीवित रखती है। वह ज्वाला दोका तपोबल ज्वलन्त किए हुए है। व्रतस्थापक सम्राट् ! अब उसी आत्माका उद्धार करनेके लिए आइए। अब उसी आत्माके उत्साहको प्रेरित कीजिए, अब उसी आत्माकी अञ्जलि स्वीकार कीजिए। वसिष्ठ और अरुन्धती दो नहीं हैं, एक हैं।

आदित्य ! पिता ! मैं वसिष्ठ—आपका पुत्र—पुलस्त्य और मेधातिथिका शिष्य—मैं तपोनिधि, अपने तपके बलसे संकल्प करता हूँ कि आपने जिस आत्माका सर्जन किया है उसे एक और अभेद्य रक्खूँगा (अञ्जलि देते हैं और मस्तक नवाते हैं। रात हो जाती है। तारोंसे जगमगाते हुए आकाशके सौन्दर्यकी छाया उनपर पड़ती है।)

तृतीय अंक

[समय एक वर्ष पश्चात्। संध्या समय सरस्वतीके तीरपर वसिष्ठ वरुणिका आश्रम। एक पर्णकुटीके सामने कुशासनपर वसिष्ठ अनिमेष दृष्टिसे बैठे हैं। उनकी आँखें सामने बहती हुई सरस्वतीके जलपर स्थिर हैं। उनके प्रतापी वदनपर ग्लानि उत्साह दोनों हैं। एक शिष्य आदरपूर्वक आकर हाथ जोड़कर खड़ा रहता है।

वसिष्ठ

(एकदम चौंककर, ऊपर देखकर) क्यों, सब गौएँ लाईं ?

शिष्य

जी हाँ। और तपोनिधि ! मुनि श्वेतकर्णको मैंने इस ओर आते देखा था।

वसिष्ठ

(कुछ सोचकर) अच्छा सिंधुके तटपर जिनका आश्रम है वही ? बड़ा अच्छा हुआ, मैं भी उनके दर्शन करके पवित्र हो जाऊँगा। देखो भाई ! सायंकालकी संध्या करने से पहले ही सोम बना छोड़ना।

शिष्य

(चिंतासे) क्यों गुरुदेव ! कोई विशेष बात है।

वसिष्ठ

(खिन्नतासे) नहीं, कुछ नहीं। आज न जाने क्यों मेरे हृदयमें कुछ हलचल हो रही है। जान पड़ता है आज मेरे तपकी परीक्षा होने वाली है।

[जटाधारी मुनि श्वेतकर्ण झटपट पैर बढ़ाते हुए आते हैं। वे अधेड़ अवस्थाके हैं और उनके हाथमें दंड-कमंडलु है।]

श्वेतकर्ण

(वसिष्ठसे) क्यों जी! वसिष्ठ मैत्रावरुण कहाँ मिलेंगे?

वसिष्ठ

(खड़े होकर स्वागत करते हुए) आइए पधारिए मुनि जी! (दर्भासन देते हैं।) आसन ग्रहण कीजिए।

श्वेतकर्ण

(दंड ठोककर) किन्तु महर्षि कहाँ हैं?

वसिष्ठ

(नम्रतासे) कौन वसिष्ठ? मैं ही वह मैत्रावरुण हूँ।

श्वेतकर्ण

(चौंककर) तुम? (हँसते हैं) तुम तो बच्चे हो!

वसिष्ठ

(हँसकर) ऐसा तो बच्चा नहीं हूँ।

श्वेतकर्ण

(आश्चर्यसे देखते हैं) मैं सिंधुतटसे संगम-तीर्थपर

स्नान करने आया था। वहाँसे तुम्हारी ख्याति सुनकर यहाँ चला आया हूँ। मैं समझता था कि तुम्हारे समान महर्षि और मंत्रद्रष्टा तो कोई वृद्ध होंगे।

वसिष्ठ

(हाथ जोड़कर) वरुणकी कृपा केवल वयोवृद्धपर ही नहीं होती।

श्वेतकर्ण

पर तुम तो सबसे विचित्र हो। सुना है कि तुमने अपने और मेधातिथिके बीच एक आत्माका सर्जन किया है। क्या यह सत्य है ? क्या किसीने कभी ऐसी बात सुनी है ? हम जैसे वृद्धोंको तो ये बातें बड़ी अमंगल-कारक लगती हैं।

वसिष्ठ

(शांतिसे) हाँ, अज्ञात वस्तु तो अमंगलकारक लगती ही है। किन्तु उस आत्माको मैंने नहीं सर्जन किया है। हम दोनों जब उत्पन्न हुए थे तभी वरुणदेवने उसका भी सर्जन कर दिया था। मैंने तो केवल उसके दर्शन भर किये हैं।

श्वेतकर्ण

चिल्लाकर किन्तु-किन्तु, यदि ऐसा है तो विवाह क्यों नहीं कर लेते। इस प्रकार तो बालक-बालिकाओंका सारा भविष्य ही चौपट हो जायगा। तुम्हारे समान महर्षिको क्या यह सब शोभा देता है ?

वसिष्ठ

इसमें भविष्यके चौपट होनेकी क्या बात है ! सत्यके दर्शनसे क्या उनकी कुछ हानि हुई है। उलटे उन्हें अपनी आत्माके दर्शन हो जायँगे।

श्वेतकर्ण

(अधीरतासे) किन्तु यदि एक आत्मा है तो विवाह क्यों नहीं कर लेते।

वसिष्ठ

(खिन्नतासे) मुनिवर्य ! एक आत्माके दो भागोंको एकत्र करनेके लिये कितना तपोबल चाहिए यह आप जानते ही हैं। हमारे पास इतना तपोबल नहीं है। मेधातिथिको ब्रह्मचर्य्य और शुष्क इंद्रिय-निग्रह में बड़ी श्रद्धा है; पतिकी सेवा करने और प्रजा पालनेमें उसे पतन दिखाई देता है। इसलिये हमारा विवाह हो ही कैसे सकता है।

श्वेतकर्ण

(सिर खुजलाकर) तब एक आत्मा क्यों कहते हो ?

वसिष्ठ

एक है इसलिये। उसने और मैंने दोनोंने वासनापर विजय पाई है। इसलिये हमारे मार्गमें देहके आचार या विचार बाधा नहीं डाल सकते। जैसे प्रायः एक देहीके दो अंगोंमें परस्पर विरोध नहीं होता और एक व्यक्तिकी दो वृत्तियोंमें विरोध नहीं रहता वैसे ही यह भी है।

श्वेतकर्ण

मैं मेधातिथिसे मिला था। उसे तुम्हारे आत्मामें श्रद्धा नहीं है।

वसिष्ठ

(हँसकर) मेरे तपोबलमें इतनी ही तो कमी है। उसकी आँखोंमें से अभी भेदका भ्रम नहीं भागा है।

श्वेतकर्ण

(सिर हिलाकर) नहीं महर्षि ! यह तो तुम्हारा ही भ्रम जान पड़ता है।

वसिष्ठ

हूँ ? अच्छा आपने यह कैसे समझ लिया कि हमें विवाह करना चाहिए और हम परस्पर विवाह करने योग्य हैं ? बताइए ऋषिराज ! आप मेधातिथिके पास गए क्यों ! और वहाँसे लौटकर यहाँ आए क्यों ! इसीलिये न कि हमारा वह आत्मा आपको भी दृष्टिगोचर हुआ है। हम भले ही अलग रहकर तप साधें और पृथक् रहें किन्तु हमारा आत्मा एक रहेगा।

श्वेतकर्ण

मेरी समझमें यह सब कुछ नहीं आ रहा है।

वसिष्ठ

(हँसकर) क्योंकि आपके आत्माका अर्द्धाङ्ग अभी आपको दृष्टिगोचर नहीं हुआ है।

[पीछे कोलाहल सुनाई देता है और दो तीन शिष्य दौड़े हुए आते हैं। उनके पीछे कुछ और व्यक्ति दौड़ते हुए आते हैं। उनके पीछे कुछ और व्यक्ति दौड़ते हुए आते हैं। भगवान् ऋतुकी पालकी भी आती दिखाई देती है। पीछे कितने ही स्त्री पुरुष आते दिखाई देते हैं।]

शिष्य

भगवान् मैत्रावरुणकी जय! भगवान् वारुणिकी जय!

वसिष्ठ

क्यों?

शिष्य

भगवान् ऋतु पधारते हैं। आपको सप्तर्षिपद प्राप्त हुआ है। भगवान् मैत्रावरुणकी जय!

वसिष्ठ

(दृढ़तासे) क्या है?

श्वेतकर्ण

भगवान् वसिष्ठकी जय!

वसिष्ठ

भाई, थोड़ा चुप तो रहो। (वे उठते हैं और ऋतुकी पालकीके पास जाकर प्रणाम करते हैं। लोग चारों ओर घेरकर खड़े हो जाते हैं।) भगवान्! बड़ा अनुग्रह किया आपने, आइए आइए पधारिए मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिए।

[शिष्य ऋतुकी पालकी धरतीपर टेकते हैं]

ऋतु

(हँसते हुए मुखसे) मैत्रावरुण, तपोनिधि ! निदान सातवें ब्रह्मर्षि पृथ्वीपर अवतरित हो ही गए। आर्योंका श्रमणयुग समाप्त हुआ। हमारी स्वभूमि और स्वधर्मके सनातन स्तंभका रोपण हुआ। हमारे तपकी सिद्धि हुई।

वसिष्ठ

क्या हुआ ?

ऋतु

तात ! आज जब यज्ञ कुंडमेंसे ज्वाला निकली तो हम छःहोंको तुम्हारे दर्शन हुए। वत्स ! आज आर्योंका अहोभाग्य है। चलो, मैं तुम्हें लिवा चलने आया हूँ। चलो, चलकर सप्तर्षि-सत्रका आरंभ करें।

[वसिष्ठ सिरपर हाथ रखकर नीचे देखते हैं।]

ऋतु

चलो अब विलंब नहीं करना चाहिए।

वसिष्ठ

(खेदसे) ब्रह्मर्षिवर्य (धीरेसे) मेरे-ए-(सब चौंक कर देखते हैं। वसिष्ठ ऊपर देखकर हाथ जोड़कर) भगवन् ! मुझे सप्तर्षिपद नहीं चाहिए।

ऋतु

(अधीरतासे) क्यों, पागल हुए हो क्या !

वसिष्ठ

नहीं, मुझसे यह पद नहीं लिया जा सकता।

[सब एक दूसरेकी ओर देखते हैं।]

क्रतु

अरे पागल! किन्तु सातवें सप्तर्षि तुम्हींमें प्रकट हुए हैं।

वसिष्ठ

(दीनतापूर्वक) तो उनसे मेरी प्रार्थना है कि वे पुनः किसी औरमें प्रकट हों। मैं इस पदके योग्य नहीं हूँ।

क्रतु

पर यह तेरी ही बात तो नहीं है। इस सत्रपर तो समस्त आर्योंका कल्याण और धर्म अवलंबित है। हम उसके लिये अट्ठानवे वर्षतक प्रतीक्षा करते रहे। हममेंसे कितनोंने तो बड़ी कठिनाईसे श्वास और प्राणको इकट्ठा रखकर देवोंका मुख ताका है। हमारा तो धैर्य भी जाता रहा, और जिस पदके लिये सहस्रों महर्षि मर मिटे उसे स्वीकार करनेमें तू आनाकानी कर रहा है।

वसिष्ठ

(आँखें ढककर) मैं जानता हूँ, जानता हूँ। भगवन्, मेरा हृदय फटा जाता है। भगवन्, दधीचि ऋषिकी हड्डियोंके समान मेरी हड्डियोंसे यदि आर्योंका कल्याण होता हो तो उन्हें ले जाओ; पर मैं अपने आत्माको नहीं बदल सकता।

ऋतु

तुम्हारा आत्मा ! आज तुम्हें हुआ क्या है तात !

वसिष्ठ

(खिन्नतासे किन्तु दृढ़तासे) भगवन्, आपको मेरी देह नहीं चाहिए, मेरा आत्मा चाहिए। आपको ऐसे आत्मा-वाली देह चाहिए जो तीनों लोकोंको धारण कर सके। आपको ऐसे प्रबल और पवित्र आत्मावाले देहसे सत्र चलाना है जो आर्योंकी जीवन-ज्योतिको कालांत-तक सचेत रक्खे। भगवन्, इस देहमें मेरा आत्मा नहीं है। मुझे सप्तर्षिपदपर बैठानेसे मेरा आत्मा आपके किसी काम न आवेगा।

ऋतु

(आँखे फाड़कर) तुम केवल अपनी कल्पनासे उत्पन्न एक निराले ही आत्माकी बात कर रहे हो ?

वसिष्ठ

(गौरवसे) भगवन् ! वह आत्मा काल्पनिक नहीं है, सत्य है। उस आत्माको मैंने खड़ा नहीं किया है, केवल उसके प्रथम दर्शन ही किए हैं।

ऋतु

(चिढ़कर) किन्तु उस आत्मा के कारण तुम सप्तर्षि-पद क्यों छोड़ते हो ? तुम इसीलिये अस्वीकार करते हो न कि मैधातिथि भी इसी पदको चाहती थी ! यदि उसे यह

पद चाहिए तो तुम उससे विवाह कर लो। भगवती संभूति आदिका पद कुछ कम थोड़े ही है।

वसिष्ठ

नहीं, यह मैं कब कहता हूँ ? पर मेधातिथि मेरी पत्नी तो है नहीं और यदि वह मेरी पत्नी भी हो तो भी जो पद मुझे अकेलेको प्राप्त हुआ है वह हम दोनोंके किस कामका है ?

ऋतु

(क्रोधित होकर) किन्तु क्या ऐसी छोटे बालकोंकी सी हठके लिये तुम आर्योंको सर्वनाश होने दोगे ? तुम भी मूर्खहो और वह बालिका भी मूर्ख है। मेधातिथि भी कैसे मूर्ख हैं कि अपनी कन्याको इस प्रकार तपस्विनी बनने दिया।

वसिष्ठ

(शांतिसे) हाँ, यह भी आर्योंका अहोभाग्य है।

ऋतु

(आतुरतासे) क्या ?

वसिष्ठ

नहीं तो आत्मदर्शनके बिना आर्य लोग भटकते फिरा करते।

ऋतु

(आँखें निकालकर) आर्य लोग भटकते फिरा करते ? वसिष्ठ ! छः हो ऋषि प्रतीक्षा कर रहे हैं, आर्यजनोंका नया युग प्रारंभ हुआ है और तो भी तुम्हें हम लोगोंकी, मेरी प्रार्थना की या देवोंकी आज्ञाकी चिन्ता नहीं है ?

वसिष्ठ

(नीचे देखकर) अपने आत्मासे विमुख होकर क्या कभी किसीका उद्धार हुआ है ?

ऋतु

(क्रोधसे) देवोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेका परिणाम जानते हो।

वसिष्ठ

(खेदसे) मुझमें तपोबल होगा तो मैं सब सहन कर लूँगा। नहीं तो (आकाशकी ओर देखकर) जिस प्रकार मेरे पिताने मुझे जन्म दिया है उसी प्रकार वह मुझे उठा भी लेगा।

ऋतु

(दाँत पीसकर) किन्तु तुम अपना हठ नहीं छोड़ोगे ?

वसिष्ठ

(शांतिसे) मैं अपने आत्माको कैसे भूल सकता हूँ ?

ऋतु

(कठोरतासे देखकर) सप्तर्षिका शाप लगेगा।

वसिष्ठ

(सिर झुकाकर) जैसी भगवान् की कृपा।

ऋतु

(भयंकर स्वरसे) पापाचारी ! तू सप्तर्षिकी प्रार्थनाका

तिरस्कार करता है ? देवोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है। गर्विष्ठ ! मैं तुझे तेरे दुराग्रहका दंड दूँगा। (सिर ऊपर उठाकर) जा दुष्ट ! तेरा आश्रम जलकर भस्म हो जायगा, तेरी सबल धेनुएँ तुझसे छीन ली जायँगी और तू देवोंका द्वेषी निराधार एकांतमें जीवन व्यतीत करेगा।

वसिष्ठ

(आँखें बंदकरके काँपते हैं।) जो आज्ञा।

ऋतु

(शिष्यों से) शिष्यों ! चलो इस पापस्थानसे लौट चलो।

[शिष्य पालकी उठाकर जाते हैं। लोग 'भगवान् ऋतु की जय' बोलते हुए साथ जाते हैं। वसिष्ठके शिष्य भी पर्णकुटीकी ओर जाते हैं और वहाँसे अपनी अपनी वस्तुएँ उठाकर ले जाते हुए दिखाई देते हैं। वसिष्ठ मन मसोस करके देखते रह जाते हैं। केवल श्वेतकर्ण थोड़ी देर खड़े रहते हैं।]

श्वेतकर्ण

मैत्रावरुण तुम भी बड़े भारी साहसी हो। किन्तु भगवान् ऋतुका शाप निष्फल नहीं जायगा। यदि तुम्हारे कारण आर्योंको कष्ट हुआ तो स्मरण रखना ; (आँखें निकालकर) आर्योंके द्वेष्टाका मैं पीछा नहीं छोड़ूँगा। भगवान् ऋतुके शापको सफल बनानेका मैं ही साधन बनूँगा। (दंड घुमाता है !)

वसिष्ठ

(तिरस्कारपूर्वक हँसकर) मैं कब कहता हूँ कि भगवान् क्रतुका शाप निष्फल जाय ? पधारिए। (नमस्कार करते हैं। श्वेतकर्ण जाता है। वसिष्ठ थोड़ी देर चारों ओर देखते हैं) सब चले गए ? ये भी मनुष्य हैं ! जिनको मैंने खिलाया, पढ़ाया, सबल बनाया वे सब एक क्षणमें भाग गए। (चुपचाप खड़े रहते हैं।) मैं अकेला-भटकता (सिर हिलाते हैं।) नहीं, मैं अकेला क्यों ?'······'मेरा आत्मा दो देहोंमें बसता है'······'मैं और अरुन्धती ······'हे भगवन ! उसे यह समाचार मिलेगा तो उसका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जायगा। इस शापको सुनकर वह काँप उठेगी और उसे मैं ढाढ़स भी नहीं बँधा सकूँगा। अरुन्धती ! यदि तू मेरी भार्या बन गई होती ! (आकाश-की ओर देखकर) वरुणराज ! द्यावापृथिवीके नाथ ! ऋतपेश ! उस अकेलीको दुःखी न होने दीजिएगा। और मैं—मैं'······'अकेला रहूँगा। हाँ मेरे, हृदयमें तपका अमेय बल है और सहस्राक्ष ! आप मेरे साथ हैं न पिता ! मेघमंडल का स्तूप धारण करनेवाले ज्योतिष्पति ! मेरे हृदयमें बल दो। पिता ! मैं वसिष्ठ आपका और उर्वशीका पुत्र आपको बुला रहा हूँ। (कुछ देर आकाशकी ओर देखते रह जाते हैं।)

ऋतपेश ! धृतव्रत ! आपने जिस ऋत और सत्यकी

स्थापना की है, आपने जिन निश्चल व्रतोंकी स्थापना की है, उन्हें मैंने कभी भंग नहीं किया है, मैंने आरंभ किया हुआ तप कभी तोड़ा नहीं है। फिर भी क्या अब आप मुझे छोड़ देंगे? सविताका पथ बनानेवाले! उच्चस्थायी ऋत्त के अधिष्ठाता! मैंने सब कुछ तो गँवा दिया है किन्तु आपकी दी हुई वह अविभक्त आत्मा मैंने सुरक्षित रक्खी है। देव! उसे अविभक्त ही रहने दीजिएगा। (चारो ओर देखकर) सब गए.........और तपोनिधि वसिष्ठका आश्रम उजड़ गया। (नीचे सिर झुकाकर चुपचाप खड़े रहते हैं।) ....और अन्तमें निश्चल तपश्चर्या—वरुणके व्रतका पालन—इन सबका यह परिणाम! (ऊपर देखते हैं।) सम्राट्! आप भी सप्तर्षिके शापसे डर गए?

[एक गाय दौड़ती हुई आती है और घबराई हुई आँखों से देखकर चली जाती है।]

धेनु! भूरिशृंगा! तू भी भूल गई? (एक लम्बी साँस लेकर) सब भूल गए। ठीक तो है। जिसे वरुणने छोड़ दिया उसे कौन नहीं छोड़ेगा? अकेला-अकेला! (हृदय भर आता है।) अरुन्धती! तू भी सप्तर्षियोंके शापसे डरकर मुझे भूल जायगी? (आँखें ढक लेते हैं और सिर हिलाते हैं।) नहीं नहीं, वह कैसे भूल सकती है? वसिष्ठ! तेरा तप घट जायगा। तूने जिस आत्माके दर्शन किए हैं वह यदि असत्य होगा तो वह अवश्य भूल जायगी। (आनंदपूर्वक)

नहीं नहीं, वह आत्मा असत्य नहीं है। इसका मैंने नहीं सर्जन किया है, शाश्वत ऋतके सर्जक वरुणने सर्जन किया है, नर और नारीके सर्जक मेरे पिताने सर्जन किया है। (दीनतापूर्वक) और देव, उस आत्माके प्रथम दर्शन करनेका यह दंड ! देव ! वरुण ! (आँखोंपर हाथ रखकर रोते हैं और रोते हुए स्वरसे कहते हैं।) पिता ! पिता ! यदि उस आत्माके दर्शन करनेमें पाप था, तो मुझे और अरुन्धतीको उत्पन्न ही क्यों किया ?

[वसिष्ठ फूट-फूटकर रोते हैं। थोड़ी देरमें ही उसके पैर लड़खड़ाते हैं और वे मूर्छित होकर धरतीपर गिर पड़ते हैं। थोड़ी देरमें मेधातिथिके साथ अरुन्धती भी वहाँ आ जाती है।]

अरुन्धती

क्यों ! कोई दिखाई नहीं देता !

मेधातिथि

(हँसकर) इस समय भला यहाँ कोई हो सकता है ! सप्तर्षिपद पाए हुए वसिष्ठ और उनके शिष्य तो सत्रमें चले गए होंगे।

अरुन्धती

ओः ! सत्रमें जानेके पूर्व यदि मैं वारुणिके दर्शन कर पाती—कहीं वे हमारे यहाँ न चले गए हों ! सत्रमें जानेसे पहले मुझसे मिले भी नहीं।

मेधातिथि

पगली ! तू भी तो इस पदके लिये तप करती थी न! तेरा जी दुखानेके लिये क्या वे तुझसे मिलने आवेंगे !

अरुन्धती

यह क्या कहते हैं पिताजी ! उन्हें इस पदकी प्राप्ति होनेसे तो मैं और भी अधिक प्रसन्न हूँ। मैं तो केवल तपस्विनी भर हूँ और वे–वे तो ब्रह्मर्षियोंसे भी श्रेष्ठ हैं।

मेधातिथि

(वसिष्ठको देखकर) अरे, पर यह धरतीपर कौन पड़ा है!

अरुन्धती

(नीचे देखकर) अरे ! अरे ! कौन तपोनिधि !

[वह झटपट पास आती है। मेधातिथि मूर्छित वसिष्ठको उठाते हैं! अरुन्धती बयार करती है। वसिष्ठ आँखें खोलते हैं और सचेत होते ही सहसा चौंककर खड़े हो जाते हैं।]

वसिष्ठ

(सिरपर हाथ फेरकर) कौन महर्षि मेधातिथि और-और अरुन्धती !

मेधातिथि

हाँ ! किन्तु वसिष्ठमैत्रावरुण ! तुम इस प्रकार—

वसिष्ठ

(दूर हटकर अवरुद्धकण्ठसे) मेधातिथि ! दूर रहिए, मुझे न छूइए। मुझपर–आश्रमपर सप्तर्षिका भयंकर शाप है।

अरुन्धती

क्यों मैत्रावरुण ! तुम्हें सप्तर्षिपद............।

वसिष्ठ

(खिन्नतासे अपने सिरपर हाथ रखकर) तुम नहीं जानती अरुन्धती ? भगवान् क्रतु हमें लिवाने आए किन्तु मैंने सप्तर्षिपदके लिए सत्र करना अस्वीकार कर दिया। (नीचे देखते हैं।)

मेधातिथि

(चौंककर) अस्वीकार कर दिया ?

वसिष्ठ

हाँ।

अरुन्धती

(निकट आकर) क्यों ?

वसिष्ठ

(नीचे देखकर) मेरी देहने यह पद प्राप्त किया, किन्तु हमारे आत्मासे विमुख होकर यह देह इस पवित्र और कल्याणकारी पदको कैसे स्वीकार कर सकती थी ?

मेधातिथि

और भगवान् क्रतु क्रोधित भी हुए ?

वसिष्ठ

(कटुतासे) मैंने आर्यजनोंका द्रोह किया, सप्तर्षिके निमंत्रणका अनादर किया, मैं अधमोंसे भी अधम बन गया।

भगवान्‌ने शाप दिया और (अश्रु भरे नयनोंसे चारों ओर देखकर) आश्रम उजड़ गया, शिष्य भाग गए, धेनुएँ लूट ली गईं महर्षि! (रोना सा स्वर हो जाता है।)

मेधातिथि

(काँपकर दूर हटते हैं।) ऐं!

वसिष्ठ

और पिता वरुण-वे भी विमुख हो गए (नीचे देखते हैं।)

मेधातिथि

किंतु वसिष्ठ, तुम जाओगे कहाँ!

वसिष्ठ

कहाँ! (चारों ओर देखकर कर्कशतासे) दूर बहुत दूर, उजाड़ निर्जनमें जहाँ भगवान् क्रतुका शाप शान्तिसे रहने दे वहाँ। (मेधातिथिके मुखपर घबराहट देखकर) महर्षि! पितातुल्य मेधातिथि! यहाँसे पधारिए। इस पापभूमिपर अधिक समय तक न खड़े रहिए। जाओ अरुन्धती, तुम भी चली जाओ (बोलनेमें स्वर भर्रा जाता है।) जाओ [दंड और कमंडलु लेने घूमते हैं। अरुन्धती आँसू पोंछती है।]

मेधातिथि

(अरुन्धतीसे धीरेसे) चलो अरुन्धती! अब यहाँ अधिक नहीं ठहरना चाहिए। [अरुन्धतीकी आँखें चमकती हैं। वसिष्ठ कमंडलुमें पानी भरते हैं, वह देखती है।]

मेधातिथि

(अधीरतासे) चलो अरुन्धती।

अरुन्धती

(तिरस्कारसे) ठीक है। यहाँ अधिक देर तक कैसे खड़ा रहा जा सकता है। आप चलिए पिता जी! मैं आती हूँ।

मेधातिथि

(धीरेसे) तू भी चल ले, यहाँ रहनेसे शाप लगेगा।

अरुन्धती

(दृढ़तासे प्रत्येक शब्दपर बल देकर) आप चलिए, मैं आती हूँ।

[मेधातिथि अरुन्धतीकी ओर देखते हैं, किन्तु उसके मुखपर दृढ़ता देखकर चले जाते हैं। वसिष्ठ कमंडलुमें पानी भरकर हाथमें दंड लेते हैं और मुड़कर देखते हैं।]

वसिष्ठ

(धीरेसे) अब जाओ अरुन्धती।

अरुन्धती

तुम कहाँ जाओगे वसिष्ठ?

वसिष्ठ

जहाँ मेरा तप ले जाय। (आगे पग बढ़ाते हैं।)

अरुन्धती

इस प्रकार कबतक रहोगे।

वसिष्ठ

जबतक मेरे आत्मामें श्रद्धा है तबतक।

अरुन्धती

फिर?

वसिष्ठ

फिर पितृलोकमें—

[इतनेमें घबराई हुई गायोंकी टोली दौड़ती हुई आती है। पीछे जंगलमें लोगोंका कोलाहल और पेड़ गिरनेकी ध्वनि सुनाई देती है।]

अरुन्धती

यह क्या?

वसिष्ठ

लोग आश्रममें आग लगा रहे हैं। (तिरस्कारसे हँसकर) थोड़े ही क्षणमें वसिष्ठका आश्रम जलकर भस्म हो जायगा। जाओ अरुन्धती! यहाँ खड़े रहनेमें क्या धरा है? थोड़ी देरमें चारों ओर आग फैल जायगी। (पीछे लपटें दिखाई देती हैं। दाँत पीसकर पीछे देखते हैं।) आश्रम! तू भी मुझे निकाल रहा है? (सूखी हँसी हँसकर नदीकी ओर मुड़ते हैं।)

अरुन्धती

(वसिष्ठका हाथ पकड़कर) चलो वसिष्ठ! उस नावमें बैठकर चल दें।

वसिष्ठ

(चौंककर) कहाँ ?

अरुन्धती

(दृढ़ता से) जहाँ पतितपावनी सरस्वती ले जायँ वहाँ—ये आर्य लोग जहाँ न पहुँच सकें वहाँ।

(हाथ खींचती है।)

वसिष्ठ

पर तुम कहाँ चल रही हो ?

अरुन्धती

(हँसकर) जहाँ हमारा आत्मा ले जाय वहाँ।

वसिष्ठ

(सहसा अरुन्धतीका हाथ खींचकर ऊँचे स्वरसे) क्या ?

अरुन्धती

(हँसती हुई आँखोंसे) क्या इतनी ही देरमें अविभक्त आत्माकी श्रद्धा जाती रही ? जहाँ वह आत्मा है वहीं उसकी देह भी है।

वसिष्ठ

किन्तु तुम्हें तो उस आत्मामें श्रद्धा नहीं है।

अरुन्धती

किसने कहा ? आज यहाँ जब मैंने तुम्हें अकेला देखा तब उस आत्माके मुझे दर्शन हुए। मैं भूलती थी वसिष्ठ !

हम दोनों एक हैं—अलग अलग देहोंमें एक ही आत्मा हममें निवास करती है। चलो चलें।

वसिष्ठ

(हाथसे कमंडलु और दंड फेंककर हाथ बढ़ाते हैं।) अरुन्धती ! देवी ! प्राण !

अरुन्धती

नाथ ! प्रियतम ! तपोनिधि ! [दोनों गले मिलते हैं।]

वसिष्ठ

मेरी—मेरी सदाकी

अरुन्धती

तुम्हारी'''''''जन्म-जन्मान्तर की।

[वे प्रेमसे लिपटे हुए हैं। लपटें निकट आती हैं।]

वसिष्ठ

लो ये लपट पास आ गई। (सहसा अरुन्धतीको हटाकर) अरुन्धती। पर यह कैसे हो सकता है ? मेरे साथ तुम कैसे चलोगी ?

अरुन्धती

क्यों ? जैसे तुम जाओगे वैसे ही।

वसिष्ठ

किंतु तुम मेधातिथि सहस्र शिष्योंकी गुरु, सहस्रों धेनुओंकी स्वामिनी—

अरुन्धती

(पैर ठोककर) क्या अब भी यह विचार शेष रह गया है ? अब तो इस कमंडलु और अपने दो दंड बस इन तीनोंकी ही स्वामिन हूँ। चलो।

वसिष्ठ

(हठपूर्वक खड़े रहकर) नहीं तुम नहीं चल सकती। तुम्हें अगले वर्ष सप्तर्षिपद प्राप्त हो और तुम्हारा ब्रह्मचर्य—(सिर हिलाकर) तुम्हें कैसे ले चलूँ ?

अरुन्धती

नाथ ! (उसका मुँह लाल हो जाता है) इस समय क्या यह पागलपनकी बात करनेका समय है ? ब्रह्मचर्यकी अपेक्षा ऋत बहुत बड़ा होता है। जब हम एक साथ जन्मे हैं—बरसोंसे एक हैं—हमारा आत्मा एक है तो शाश्वत नियमका भंग करके पृथक् कैसे रहें ?

वसिष्ठ

(अरुन्धतीको गले लगाते हैं।) प्रिये ! मेरा तपोबल सफल हो गया। अरुन्धती ! प्राण ! हम दोनों एक ही रहेंगे।

अरुन्धती

(हँसती है) तपोनिधि ! अपना कमंडलु मुझे दो और एक हाथमें अपने दंड ले लो और चलो हम दोनों हाथ पकड़कर दौड़ चलें।

वसिष्ठ

(हँसकर) जैसे बचपनमें समिधा एकत्र करने दोड़ते थे वैसे ही। [दोड़ते-दौड़ते आगे बढ़ते हैं। आगे एक पेड़ जल उठता है, और अरुन्धतीको लपट लगती है।]

अरुन्धती

(चिल्लाकर) नाथ ! मैं मरी !

वसिष्ठ

(घबराकर) अरुन्धती ! प्राण ! यह तो भगवान् क्रतु-का शाप है। (ओंठ दबाकर) लौट जाना चाहती हो ? अभी समय है।

अरुन्धती

(सिरके बालोंमें लगी हुई लपट बुझाते हुए, काँपते ओठोंसे) नहीं ! नहीं ! यहीं तुम्हारे पैरोंमें।

वसिष्ठ

(एकदम दृढ़तासे अरुन्धतीको लिपटाकर) तब यदि वैश्वानर ले तो दोनोंको ले—(आगमें दोनों बढ़ते हैं।)

[अग्निकी लपट ठण्डी पड़ जाती है। वृक्षोंमें से निकलकर दोनों तटपर दौड़ आते हैं, नावको नदीमें ठेलकर उसमें बैठ जाते हैं और झटपट नाव खे ले जाते हैं।]

चतुर्थ अंक

[समय—दो वर्ष पश्चात् एक संध्या। जहाँ सरस्वती मरुभूमिमें अदृश्य होती है वहाँ मरुस्थलके बीच उपजाऊ स्थान। थोड़ी सी झाड़ियों और पेड़ोंके बीच एक पर्णकुटो वहाँ पेड़पर एक झूला लटका है और एक टेढ़े सींगवाली गाय उस पेड़से बँधी हुई है। मुनि श्वेतकर्ण हाथमें एक बड़ा डंडा लेकर आते हैं। उनके जबड़े बैठ गए हैं, आँखोंमें गढ़े पड़ गए हैं। उनके पैर काँपतेसे दिखाई पड़ते हैं।]

श्वेतकर्ण

(सिरपर हाथ रखकर) अन्तमें पेड़पर पत्ता दिखाई तो दिया। (आँखें मलकर) आँखें जलती हैं। एं! (चारों ओर देखकर) यह स्थान तो बड़ा रमणीय है। कौन जान सकता है कि इतनो दूर ऐसा सुन्दर स्थान है? (पागल सा देखता है) अभी तक वह मैत्रावरुण हाथ न आया। यहाँ ठहर कर क्या करूँगा? ओः (हथेलीपर सिर रखता है और थोड़ी देर सिसकियाँ भरता है।) मेरा पूरा आश्रम उजड़ गया और सोलह पुत्र मेरी आँखोंके आगे तड़पकर मर गए। (दाँत पीसकर ऊपर देखता है।) सप्तसिंधुपर देवता कुपित हुए हैं। (काँपता है।) और पानो बिना,

वर्षाकी बूँद बिना तड़फड़ाकर लोग मरते जा रहे हैं! (विचार करता है।) क्यों न मरें! सप्तर्षियोंका अनादर हुआ, देवोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन हुआ, फिर बचा ही क्या रह गया? कहाँ मिलेगा वह वसिष्ठ? (दृढ़तासे डंडा पकड़कर) मैत्रावरुण! रात-दिन तुझे खोजता हुआ मैं भटक रहा हूँ। एक बार मेरे हाथ आ जा, बस एक झपाटेमें तेरे प्राण लेकर देवोंको संतुष्ट कर दूँगा। विश्वेदेवा! मेरे प्राण बचाए रखना। मुझे आर्योंको इस संकटसे मुक्त करना है। मेरा अब बचा ही कौन है? देवता प्रसन्न हो जायँ तो मेरा जन्म सफल हो जाय। (चिंतासे चारों ओर देखता है।) सब कहते हैं कि वसिष्ठ यहीं कहीं रहता है, पर कहीं दिखाई नहीं दे रहा है। यहाँ तो मैत्रावरुण रहता नहीं होगा? (कर्कशतासे हँसता है।) ऐसी शांतिमें क्या देवता उस पापीको रहने देंगे? सहस्रों आश्रम धूलमें मिल गए और वारुणिके यहाँ ऐसी शांति? यह भी कहीं संभव है। (झूलेपर दृष्टि पड़ते ही) यहाँ तो एक बच्चा भी है! (निराशाके उद्वेगसे) और मेरे सब बच्चे भूखसे व्याकुल होकर मर गए। (झपटकर झूलेके पास जाते हैं।) कैसा सुन्दर बालक है! (सहसा अपने सिरपर हाथ रखकर) क्या मैत्रा-वरुण और मेधातिथिका पुत्र है? (पीछे हटता है।) क्या यह मुख उन्हींके समान है—या मेरा माथा घूम रहा है? क्या मेरे विचार ही यह सब भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं? हाँ,

नहीं तो (दाँत पीसकर) यदि यह उन पापाचारियोंका पुत्र हो तो तुरंत ही देवोंके पास भिजवा दूँ। (डंडा उठाता है।) किंतु बाल-हत्या—(पीछे किसीके पैरकी आहट आती है।) कौन आ रहा है ? देखूँ तो सही। (पर्णकुटीकी भीतसे लगकर छिप जाता है।)

[अरुन्धती, एक वृद्धा और एक युवती प्रविष्ट होती हैं। अरुन्धती एक मोटे सूतकी धोती पहने हुए है। अन्य स्त्रियोंने पेड़के पत्ते लपेट रक्खे हैं।]

अरुन्धती

(हँसकर) आओ बहन ! लजाती क्यों हो ? बैठो। मैं पानी लाती हूँ।

श्वेतकर्ण

(स्वगत) मेधातिथि ! [दाँत पीसकर] यहाँ ? (डंडा बलपूर्वक पकड़कर) अन्तमें हाथ आ ही गए।

वृद्धा

(नम्रतासे) नहीं नहीं; कष्ट न कीजिए। हम तो यों हीं चली आई हैं। हम अभी चली जायँगी, नहीं तो कोई देख लेगा।

अरुन्धती

(पुनः हँसकर) हाँ ठीक है। हमारे जैसे शाप पाए हुए लोगोंके घर देर तक ठहरना भी नहीं चाहिए।

श्वेतकर्ण

(स्वगत, ओंठ दबाकर) तुम्हें तो तनिक सा भी शाप लगा हुआ नहीं दिखाई देता। क्या देवोंने भी अन्याय करना प्रारम्भ कर दिया है ?

वृद्धा

क्या किया जाय माँ ! यह तो लोगोंका अन्याय है। किन्तु पूरे सप्तसिंधुमें शांति और आनन्द तो यहीं दिखाई दे रहा है। हमारे यहाँ ऐसा कठोर दुष्काल है कि एक बूँद नहीं पड़ी।

श्वेतकर्ण

(स्वगत) इन पापियोंके पापसे—

युवती

किन्तु, माँ ! तुम्हें तो कुछ कष्ट नहीं होता होगा।

अरुन्धती

कैसे हो मैत्रावरुण ! मैं और मेरी 'शक्ति'—तीनोंके लिये भरपूर मिल जाता है। हमारी वक्रशृङ्गी पर्याप्त दूध भी देती है। (हँसकर) अर्थात् हमें तो किसीका कोप नहीं लग रहा है।

श्वेतकर्ण

(स्वगत, हाथमें दृढ़तासे डंडा पकड़कर) देवके कोपकी मूर्ति यह जो प्रस्तुत है। घबराओ मत।

वृद्धा

किंतु यहाँ एकांत बहुत है।

अरुन्धती

(प्रेमपूर्ण हास्यसे) एकांतके बिना तपकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? और फिर वारुणिके समान स्वामीका साथ हो तो फिर चाहिए ही क्या ?

वृद्धा

किंतु, महर्षि मेधातिथिका विशाल आश्रम, आपके अगणित शिष्य, आपकी कीर्ति इन सबका आपको स्मरण नहीं होता ?

अरुन्धती

(उत्साहसे) आता है। किन्तु वैसे ही जैसे कोई दुःखमय स्वप्न हो। तुम जानती हो ? इस एकान्त और आत्मदर्शनके लिये हमने कितने जन्मोंतक तप किए हैं। अब इससे बढ़कर हमारे लिये क्या अच्छा होगा ?

श्वेतकर्णा

(आश्चर्यसे) ओ हो !

युवती

माँ आपने यह कैसे जाना कि पिछले जन्ममें आपने इसीके लिये तप किया था ?

अरुन्धती

(प्रेमपूर्वक आँखोंसे) बहन ! ज्यों ज्यों हमें अपने तपके साहचर्य और आत्मदर्शनकी वृद्धि होती है त्यों त्यों

भूतकालके बीचका मायापट फटता चलता है। सृष्टिके प्रारंभसे ही बिछड़ी हुई हमारी अर्धात्माओंने एक होनेकी इच्छासे अनेकों जन्म धारण किए। (हृदयके उत्साहके साथ) और अंतमें इस जन्ममें देवोंने हमारी इच्छा पूरी कर दी ; हमारी अर्धात्माओंने स्वाभाविक ऐक्यको परख लिया और साध लिया।

श्वेतकर्ण

(स्वगत, तिरस्कारसे) और आर्यों का सर्वनाश होने लगा।

वृद्धा

यह सब आप कैसे जान लेती हैं ?

युवती

माँ ! आप पहले जन्ममें क्या थीं ?

अरुन्धती

(थोड़ा विचारकर) मैं ? मैं क्या जानूँ क्या थी ? किंतु मुझे और मैत्रावरुणको एकसे ही स्वप्न आते हैं, इसीसे हम यह जान लेते हैं कि पहले जन्ममें हम कौन थे ?

वृद्धा

कौन थीं ?

(कोमल और भावपूर्ण स्वरसे) मैं-मैं ऋषिकन्या थी ! मेरा नाम संध्या था। मैं चन्द्रभागाके तटपर मौन व्रत

पालती थी और वरुणका आराधन करती थी। मेरे हृदयमें अकथनीय व्यथा थी। मेरे हृदयमें अवर्णनीय आशा थी। और फिर भी निष्फलता ही मेरे हाथ लगती। किसीका मार्ग देखती रहती फिर भी कोई न आता। (ठहरकर) मैंने बड़े कठोर व्रत किए; फिर भी मुझे शांति नहीं मिली। (हर्षसे) एक दिन एक ऋषिराज चन्द्रभागा स्नान करने आए। मैंने उन्हें देखा, उन्होंने मुझे देखा। उस क्षणमें युगोंकी खोज पूरी हुई। हमारे अर्धात्माओंका संबंध समझमें आया। (खेदसे) किंतु एक होना भाग्यमें नहीं था। ऋषिराज शिष्योंके साथ चले गए, मैं अकेली तड़पती पड़ी रही। ऋषिराजने अस्वस्थ चित्तको वशमें करनेके लिये तपस्या की और शरीर छोड़ा। मैंने भी यह सुनकर बड़े भयंकर व्रतोंका पालन करके मृत्युको निमंत्रित किया। (उत्साहसे) हमारा तप सफल हुआ। वे ऋषिराज फिर मैत्रावरुणके रूपमें जन्मे और मैंने महर्षि मेधातिथिके यहाँ जन्म लिया। हमारे अर्धात्माका भ्रमण समाप्त हुआ। एक तेजके अर्धाङ्ग परस्पर मिल गए। अब एक ही ज्योति चमकती है। (हँसती है। श्वेतकर्ण निःश्वास छोड़ता है।)

वृद्धा

(हाथ जोड़कर) आसपास जो कहा जाता है वह झूठ नहीं है कि आपके दर्शनसे अनादृतका आदर होने लगता है और अपुत्राको पुत्र प्राप्त हो जाता है। हम इसीलिये यहाँ

आई हैं। इस बालिकाका पति प्रसन्न नहीं होता। आप आशीर्वाद दें तो इसकी मनोकामना पूरी हो जाय।

श्वेतकर्ण

(स्वगत) कैसे स्वार्थी हैं ये आर्य भी ? ऐसे द्रोहियों-के पास जाकर भी वर माँगते हैं।

अरुन्धती

(नम्रतासे) माँ! मेरे दर्शनसे कुछ नहीं होता। यह तो कोरा भ्रम है। और यदि कुछ होता भी हो तो वह तुम्हारे तपोबलसे ही होगा। मैं मूर्ख थी, मुझमें श्रद्धा नहीं थी; तो भी मेरे वारुणिके तपोबलसे हमें आत्मदर्शन हुए। हमने सुख छोड़ा, शिष्य हमें छोड़ गए, लोगोंने हमारा धान्य और हमारे पशु लूट लिए; किन्तु हमने अपना आत्मा अविभक्त रक्खा। और आज दोमेंसे एकको भी तीसरेकी चिंता नहीं है। बहन! तुम्हारा सौभाग्य भी मेरे ही जैसा हो!

[बाहरसे वसिष्ठ ऋचा गाते हुए सुनाई देते हैं।]

ज्ञाता पथ गगनमें पतत्रीका,
ज्ञाता पथ नौकाका समुद्रमें।
ज्ञाता पथ बृहत् वायुका,
ज्ञाता पथ रविका सदा॥

वृद्धा

आपका आशीर्वाद सिरमाथे। आज्ञा दीजिए जानेकी।

अरुन्धती

बैठो तो सही, मैत्रावरुण से भी तो मिल लो।

वृद्धा

नहीं, नहीं कोई जान जायगा।

श्वेतकर्ण

(स्वगत) अच्छा, अब वह आ रहा है। आर्योंके दुःख अब दूर होंगे।

अरुन्धती

बहनो! राजा वरुण और माता सरस्वती तुम्हारी इच्छाएँ पूरी करें।

[वे स्त्रियाँ झटपट चली जाती हैं। और वसिष्ठ लकड़ीका गट्ठा लिए आते हैं। वक्रशृंगी अपना मुँह आगे बढ़ाती है। अरुन्धतीको देखकर वसिष्ठ मुस्कराते हैं। गट्ठा नीचे डालकर उसके पास दौड़ आते हैं।]

वसिष्ठ

(हाथ बढ़ाकर) प्रिये! प्राण!

अरुन्धती

(दौड़कर गले मिलती है) नाथ!

श्वेतकर्ण

(दाँत पीसकर) अभी सब समझमें आ जाता है।

वसिष्ठ

शक्ति कैसा है?

ठीक है।

[वसिष्ठ एक पत्थरपर बैठते हैं और अरुन्धती उनके कंधेपर हाथ रखकर खड़ी रहती है।]

श्वेतकर्ण

ये देवोंके द्वेष्टा हैं या प्रिय पात्र हैं।

वसिष्ठ

(चारों ओर देखकर) अरुन्धती ! साहस है ?

श्वेतकर्ण

(स्वगत, डंडा बलपूर्वक पकड़कर) अच्छा, साहस किए रहो, अभी थोड़ी ही देरमें यमके मार्गमें विचरना होगा।

अरुन्धती

(प्रेमसे हँसकर) हाँ, हाँ तुम्हारे साथ रहकर भी साहस न हो तो बात ही क्या हुई।

वसिष्ठ

प्रिये ! हमारे तपकी परीक्षा अभी पूरी नहीं हुई।

श्वेतकर्ण

अभी हुई जाती है।

अरुन्धती

क्यों ?

वसिष्ठ

मैं लकड़ियाँ चुनता हुआ आज दूर निकल गया था वहाँ बहुतसे लोग मिले, जिन्होंने भयंकर बात कही है।

अरुन्धती

क्या ?

वसिष्ठ

आर्योंकी एक बड़ी भारी टोली वसिष्ठ मैत्रावरुण और अरुन्धती मेधातिथिको खोजती हुई इसी ओर चली आ रही है।

अरुन्धती

(चकित होकर) क्यों ?

वसिष्ठ

(निःश्वास छोड़कर खिन्नता से) प्रिये ! सप्तसिंधु अन्न जलके बिना तड़प रहा है । जहाँ तहाँ मनुष्य व्याकुल होकर प्राण छोड़ रहे हैं और सबका यही विश्वास है कि यह विपत्ति उनपर हमारे ही कारण आई है । इसलिये ऐसा जान पड़ता है कि हमारी आहुति देकर देवों को प्रसन्न करनेके लिये ही इधर चले आ रहे हैं ।

श्वेतकर्ण

(आश्चर्यपूर्वक) एं !

अरुन्धती

(म्लान वदनसे) क्या कहते हो ?

वसिष्ठ

घबराओं मत अरुन्धती ! उस दिन एक साथ अग्निमें गिरते समय भी हम नहीं घबराए थे ।

अरुन्धती

(गर्वसे) मुझे कोई भी डर नहीं है नाथ ! यदि वरुणका शाश्वत व्रत पालन करनेमें मृत्यु भी हो जाय तो क्या डर है ?

[थोड़ी दूरपर मनुष्योंके आनेका कोलाहल सुनाई पड़ता है ।]

अरुन्धती

आ गए वे लोग । अब क्या होगा ? यहाँसे कहीं भागकर भी नहीं निकल सकते ।

वसिष्ठ

(दृढ़तासे) नहीं भागना नहीं होगा अरुन्धती ! अपना धनुष तुम लो और मेरा मुझे दे दो । यहाँ अपनी कुटियाके पास शक्तिके झूलेके पास हम दोनों हाथमें हाथ डालकर खड़े रहेंगे ।

अरुन्धती

(लाकर धनुष देती है किन्तु घबराकर ठहर जाती है ।) नाथ ! किन्तु शक्तिका क्या होगा ? (झूलेको और नीचे झुकाकर) कैसा सो रहा है ? (एक दम शक्तिसे लिपटकर चुम्बन लेती है ।) मेरे लाड़लेको बिना मौत मार डालेंगे तो ?

वसिष्ठ

अरुन्धती ! यह घबरानेका समय नहीं है । वह हमारे

अविभक्त आत्मकी ज्योति है। यदि हमें यमके पथपर चलना है तो वह भी क्यों न चले?

[लगभग सौ मनुष्योंकी टोली घोड़े और पालकी-पर दूरसे आती दिखाई देती है।]

श्वेतकर्ण

(स्वगत) आर्यों! मैं तुम्हारे देवद्वेष्टाओंको यम सदनमें भिजवानेके लिये पहले से ही प्रस्तुत हूँ। घबराओ मत।

अरुन्धती

(ओंठपर ओठ दबाकर) ये आए नाथ। कुछ काँपते स्वरसे) अपना हाथ मुझे दीजिए तो।

[वसिष्ठ अरुन्धतीको गले लगाते हैं, और फिर पृथक होकर अरुन्धतीके हाथमें हाथ डाल देते हैं।]

श्वेतकर्ण

(थोड़ा आगे बढ़कर दंड उठाकर, स्वगत) अच्छा, मिल लो, फिर अवसर नहीं मिलेगा।

वसिष्ठ

प्राण! ऋतधर राजा वरुणका स्मरण कर लो।

अरुन्धती

ये तो पञ्चजन ही जान पड़ते हैं।

वसिष्ठ

अच्छा हुआ वे आ गए। उनके देखते हुए, देवोंके

देखते हुए हम हाथमें हाथ डालकर लड़ेंगे एक आत्मा, एक संकल्प, एक इच्छाका मूर्त-स्वरूप—

अरुन्धती

(हँसकर) और नाथ ! एक मृत्युकी राह देखते— (हाथमें हाथ दबाती है ।)

श्वेतकर्ण

(आगे आकर चिल्लाता है ।) नहीं, एक मृत्यु कभी नहीं ! [वह दण्डके एक झपाटेसे वसिष्ठका धनुष दूर फेंक देता है और अरुन्धतीका धनुष हाथसे छीन लेता है ।]

वसिष्ठ और अरुन्धती

(चौंककर) कौन ? मुनि श्वेतकर्ण ?

श्वेतकर्ण

नहीं देवोंके द्वेष्टाओं ! तुम्हारा काल-आर्योंने तुम्हारे कारण जो कष्ट सहे हैं, उसका बदला लेने आया हूँ । वसिष्ठ! तुम्हारे पापसे हमारे घर-द्वार उजड़ गए, हमारी गायोंका दूध सूख गया और हमारे बच्चे भूख प्याससे तड़पकर मर गए किन्तु अब तुम्हारे मरनेकी बारी आई है (निर्दयता-पूर्वक हँसकर) किन्तु तुम दोनोंकी एक मृत्यु हो ? कभी नहीं । तुझे मारूँगा किन्तु मैधातिथिको नहीं । अच्छा हो कि तुम्हारा आत्मा विभक्त होकर भटकता फिरे !

वसिष्ठ

(शांतिसे) मुनि ! तुम कहीं पागल तो नहीं हुए हो ?

श्वेतकर्ण

क्यों ?

वसिष्ठ

(तिरस्कारसे) जिन अर्धात्माओंका वरुणने मिलकर संयुक्त किया है उन्हें तुम कैसे अलग कर सकते हो ? मुनि, मुझे मारोगे तो अरुन्धती स्वतः ही मर जायगी, नहीं तो—

अरुन्धती

मेरे बलसे वसिष्ठ जीवित हो जायँगे !

श्वेतकर्ण

(ठठाकर हँसते हुए) मुझे क्या पागल समझा है ? [वह दंड उठाकर वसिष्ठको मारता है । वसिष्ठ पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं । श्वेतकर्ण फिर ठठाकर हँसता है ।]

श्वेतकर्ण

(क्रूरतासे फिर हँसकर) वरुणदेव ! अब दिखाओ अपने पुत्रको पितृलोकका पथ ।

[संध्याके घिरे वातावरणमें एक तेजका वृत्त बनता है और वरुणका स्वरूप तारोंसे अधिक भी ज्वलंत दिखाई देता है ।]

अरुन्धती

आप आगए पिताजी, (हृदय विदारक सिसकी लेकर) देखिए देव ! अपने इस पुत्रकी दशा !

वरुण

(चारों ओर कुछ अस्पष्ट और गंभीर स्वर सुनाई देता है।) पुत्री! हट तो जा। मैं अपने पुत्र को ले जाने आया हूँ।

अरुन्धती

(आवेशमें) आप भी इन्हें ले जाने आए हैं? यह क्या कह रहे हैं वरुणराज? ले जाना हो तो हम दोनोंको ले चलिए। क्या आप इन्हें अकेलेको ले जाइएगा। पिता! पिता! आप भी अंतमें हमें धोखा दे रहे हैं। (सिर हिलाकर) ठीक तो है इसमें आश्चर्य ही क्या है। आपने ही तो हमारे आत्माको विभक्त करके उन्हें भटकने दिया था किन्तु हम अपने तपसे एकत्र हुए। (निराशासे) देव! क्या आप यह नहीं सहन कर सके? (आवेशमें) आकर राजन्! द्यावा—पृथ्वीके नाथ! यदि आप भी निर्दयता दिखाएँगे तो मुझे आपकी भी चिंता नहीं। अपने तपोबलसे हम एक हैं। हमारा आत्मा अविभक्त हो गया है। जब सप्तर्षिका शाप उसे नहीं तोड़ सका तो आप कैसे उसे तोड़ सकेंगे। मैं इन्हींके साथ आऊँगी। (उसकी आँखमेंसे ज्वाला निकलती है। वसिष्ठको बचानेके लिये उनपर वह अपना एक हाथ रखती है और अभिमानसे देखती है।)

वरुण

मेधातिथि ! पितृलोकमें जानेसे तुम्हें कष्ट तो नहीं होगा।

अरुन्धती

वरुणराज ! धर्मात्माओंको विरहसे बढ़कर और कोई कठोर कष्ट नहीं है। चलिए मैं आती हूँ। [वह स्तब्ध बैठ जाती है, इतनेमें पुरुषोंकी एक टोली शंख और घंटानाद करती हुई आश्रममें आ पहुँचती है। साथ में चार-पाँच पालकियाँ हैं। श्वेतकर्ण उस ओर जाता है। आगे आता हुआ व्यक्ति कहता है।] भगवान् पुलस्त्यकी जय ! भगवान् क्रतुकी जय! भगवान् वसिष्ठ और भगवती अरुन्धती की जय ! सप्तर्षिकी जय !

श्वेतकर्ण

(चौंककर) भगवान् वसिष्ठ ! भगवती अरुन्धती ! (आगे आनेवालोंसे) कौन हो तुम ? क्या बात है ?

लोग

भगवान् वसिष्ठकी जय !

आगे आनेवाले व्यक्ति

भगवान् वसिष्ठ कहाँ हैं ? भगवती अरुन्धती कहाँ हैं ?

श्वेतकर्ण

(पालकीकी ओर देखकर) कौन? भगवान् पुलस्त्य! और भगवान् क्रतु ! (आगे बढ़कर पालकीके पास साष्टांग

दंडवत प्रणाम करता है) भगवन्! आज मैं कृतार्थ हो गया। मैंने आज आर्योंका बदला चुका लिया। मैंने अभी वसिष्ठको पितृलोकमें भेज दिया है। देखिए वह पड़ा है।

[लोगोंमें हाहाकार होता है और वे चारों ओर देखने लगते हैं। अत्यंत वृद्धावस्थाके कारण पुलस्त्यकी बंद आखें खुल पड़ती हैं। मेधातिथि पालकीपरसे नीचे पृथ्वीपर कूदकर श्वेतकर्णकी ओर दौड़ते हैं।

पुलस्त्य

(धीरेसे किंतु क्रोधावेशमें) क्या तुमने वसिष्ठको मारा है? पापी! तुमने आर्योंका सर्वनाश कर दिया दुष्ट! वारुणि और अरुन्धतीको सप्तर्षिपद प्राप्त हुआ है। शिष्यो! मुझे उसके शवके निकट ले चलो।

[मेधातिथि दौड़कर अरुन्धतीके पास जाते हैं। पुलस्त्य और क्रतुकी पालकी शिष्य लोग पृथ्वीपर पड़े हुए वसिष्ठके पास टेकते हैं। अरुन्धती आँख खोलकर बिना कुछ समझे इन सबकी ओर घूमती है। उसका हाथ केवल वसिष्ठके बालोंपर घूम रहा है।]

श्वेतकर्ण

(चारों ओर देखकर) मैंने सप्तर्षिकी हत्याकी। ओह! (सिरके बाल खींचता है और मूर्छित होकर गिर पड़ता है।)

पुलस्त्य

मेधातिथि! मैत्रावरुण! हमें विलंब हो गया! (सहसा

ऊपर देखकर वरुणको पहचानते हैं और प्रणाम करते हैं।) कौन! देवाधिदेव आदित्य! राजावरुण! (सब साष्टांग दंडवत प्रणाम करते हैं। हाथ बढ़ाकर) प्रभो! आपने भी दया न की? (रोते हुए) मेरे शिष्य, ब्रह्मर्षियोंमें श्रेष्ठ अपने पुत्र वसिष्ठको ले जाने आए हो? ज्योतिष्पति! जब मनुवैवस्वत-का वचन सफल होनेको हुआ, वसिष्ठ और अरुन्धतीका तप सफल होनेको आया और सप्तर्षि-सत्रकी बेला भी समीप आ गई तब भी आप दया नहीं करते? राजन्! अब आर्योंका क्या होगा? आप क्या करनेपर उतारू हैं? (पुलस्त्यकी आँखोंमेंसे छलछलाकर आँसू गिरने लगते हैं, सबकी आँखों-से आँसू बहने लगते हैं। (रोने स्वरसे) देवाधिदेव वरुण! हम वृद्धोंपर तो दया करो। चाहो तो हम सब आ जायँ किन्तु इसे न ले जाओ।

वरुण

(हँसकर) ब्रह्मर्षि पुलस्त्य! धीरज रक्खो। इसका अर्धात्मा अलग नहीं है इसलिये वारुणिको अकेले कैसे ले जा सकता हूँ? मेधातिथि बेटी! तुमने सच कहा। तुम्हारे आत्माको मैं कैसे भंग कर सकता हूँ?

[वसिष्ठ हिलते हैं। सब देखते हैं। वसिष्ठ आँखें खोलनेका प्रयत्न करते हैं और अनजानमें ही अरुन्धतीका हाथ पकड़ लेते हैं।]

वसिष्ठ

(निर्बल स्वरसे) अरुन्धती !

अरुन्धती

(अभ्यासके कारण वसिष्ठके हाथमें हाथ डालकर) नाथ, हमारा तप सफल हुआ ।

[वसिष्ठ बैठे हैं और दोनों ही अमर्यादा का विचार आते ही लजा जाते हैं ।]

पुलस्त्य

लजाओ मत बेटी ! आज स्वर्णका सूर्य उदय हुआ है। आर्योंके लिये भी और हमारे लिये भी ।

[वसिष्ठ सहसा बैठकर पुलस्त्य, क्रतु और मेधातिथिको प्रणाम करते हैं और वरुणको देखकर चकित होकर हाथ बढ़ाकर उनकी ओर दौड़ते हैं ।]

वसिष्ठ

कौन ! मेरे देव ! ज्योतिष्पति ! पिता ! क्या आपने सचमुच कृपा करके हम दोनोंकी कुटिया पवित्र की ? पिता ! क्या आपने मुझे जीवनप्रदान किया है ।

वरुण

(हँसकर) मेधातिथिने तुम्हें जीवन प्रदान किया है ।

वसिष्ठ

भगवान् पुलस्त्य ! गुरुदेव ! भगवान् क्रतु ! बड़ी कृपा की आपने जो हमारा स्थान पवित्र किया ।

पुलस्त्य

तात! आपकी कुटीमें आकर हम पवित्र हो गए। तुम दोनोंको सप्तर्षिपद प्राप्त हुआ।

वसिष्ठ-अरुन्धती

(एक साथ) क्या?

लोग

भगवान् वसिष्ठ और भगवान् क्रतुकी जय!

पुलस्त्य

हमने यज्ञ करके सातवें सप्तर्षिका आवाहन किया। अन्तमें वे एक ज्वालामें तुम दोनोंके रूपमें प्रकट हुए। हम तुम्हें लिवा ले चलनेको आए हैं। बस तुम चले चलो तो सत्र प्रारंभ कर दिया जाय। वरुणराज! इन दोनोंको आशीर्वाद दीजिए। ये जिस प्रकार आपके बच्चे हैं उसी प्रकार मेरे भी हैं। ये आर्योंमें श्रेष्ठ हैं। आपके व्रतके पालक हैं। जिन आर्योंको मरुभूमिमेंसे यमवैवस्वत लाए उनकी स्वभूमि आर्यावर्तकी ये दोनों स्थापना करेंगे।

वरुण

वारुणि, मेधातिथि! श्रेष्ठ हो उभय आर्योंमें भी, सृष्टिकी तुमने नवीन आत्मिकता की;

दान दिए तुमने आर्योंको जीवनके,
दारुण तपस्वी संयुक्त तपके हो तुम,
हो विधाता-अविभक्त आत्मिकताके,

जबतक मेरे व्रत रहें अविचल,
जबतक सनातन श्रेष्ठ सप्तर्षि फिरें,
जबतक आर्य नर नारी रमण करते रहें,
तबतक तप तुम अखंड तपते रहो युगलके,
एक आत्मा व एक ही उमंग सदा,
एक व्रत धार कर, एक जीवन रहे,
शुद्ध संयुक्त तपके वल ऋत उभय धारते,
अमर अग्रस्त रहें सदा आत्मा वे,
परम तेजस्वी अविभक्त जो,
आर्य अन्तरमें ही सतत वसते ऋषिसत्तम!
शुद्ध हृदयकारी मात्र तुम दर्शन,
नवयुगल शांति तुष्टि और पुष्टि में,
नित्य रह पायँगे सुख,
अविचल परम धामके।

[वरुण आशीर्वाद देते हैं। वसिष्ठ और अरुन्धती पैर पड़ते हैं।]

वसिष्ठ

ज्योतिष्पति! मैं कृतार्थ हो गया। देव! हमने तो केवल आपका शाश्वत ऋत जीवित रक्खा है, और आपने जिस आत्माका सर्जन किया था केवल उसीके दर्शन भर किए हैं।

पुलस्त्य

तुम्हारी महत्ता मापी नहीं जा सकती। (क्रतुसे) भगवान्! अब वसिष्ठको शापसे मुक्त करो।

क्रतु

(आशिष देकर) मेरा आशिष मेरे शापसे अधिक सफल हो। तुम्हारा तप यावच्चन्द्र दिवाकरौ बना रहे।

वसिष्ठ

बड़ी कृपा की भगवन्!

वरुण

तो अब मैं जाऊँ?

श्वेतकर्ण

(मूर्छित अवस्थासे उठकर दौड़ते हुए) राजन्! खड़े रहिए, रीते हाथ न जाइए, मैं आ रहा हूँ। मुझे लेते चलिए।

(सब चौंककर देखते हैं।)

वसिष्ठ

मुनिवर्य! यह क्या करते हैं?

श्वेतकर्ण

(हाथ जोड़कर) क्षमा करो मैत्रावरुण! मेरा जीवन आज सफल हुआ। तुम्हारे कारण मैंने सहस्राक्षके सदेह दर्शन किए, सातों सप्तर्षि अवतरित हुए और आर्योंका भ्रमण युग समाप्त हुआ। मुझे अब इस लोकमें किसीकी चिन्ता नहीं है। तुम दोनोंको मेरा आशीर्वाद। भगवान् पुलस्त्यको आशीष दो। मैं अब जीवित रहनेके योग्य नहीं हूँ। देव! मैं भी आया।

(वह श्वास रोकता है और पृथ्वीपर गिर पड़ता है। वरुण उसे पितृलोकमें ले जाते दिखाई देते हैं। सब हाथ जोड़कर देखते हैं।)

मेधातिथि

(वसिष्ठ और अरुन्धतीपर एक ही हाथ रखकर) बच्चो! अब विलम्ब न करो। बस परिश्रमसे हम तुम्हें खोज पाए हैं। अरुन्धती, तुझे पुत्र हुआ है? कहाँ है? लाओ तो। पर ठहरो तुम दोनोंसे गले तो मिल लूँ। (दोनोंके गलेसे मिलते हैं।)

पुलस्त्य

चलो! अब हम रात ही रातमें लौट चलें। मैत्रावरुण! तुम्हें जो लेना हो सो ले लो।

वसिष्ठ

(अरुन्धती से) अरुन्धती! चलो, शक्तिको ले लो। मैं वक्रशृंगीको खोल लाता हूँ।

(जाते हैं।)

अरुन्धती

(पीछे पीछे जाकर) तपोनिधि! (हँसती है।)

वसिष्ठ

(धीरेसे) प्राण! अब अपना क्या जीवन होगा? तुम और मैं—आर्य ऋतस्के विधाता—

(दोनों एक दूसरेको अमृतभरी दृष्टिसे देखते हैं। परदा गिरता है।)

॥ समाप्त ॥